Chapter. 1

अध्याय : १

"विषय - प्रवेश"

१:००:०० प्रास्ताविक :

आधुनिक युग भारतीय साहित्य में अनेकानेक नूतन विभावनाओं, विचारों और विधाओं को लेकर आविर्भूत होता है । सामान्यतया हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल का प्रारम्भ १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से माना गया है । यह समय भारतीय नवजागरण का भी रहा है । नवजागरण के कारण भारतीय जनजीवन में एक अश्रुतपूर्व परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है । राजा राममोहनराय, दयानंद सरस्वती, महादेव गोविन्द रानडे, केशवचंद्रसेन, महर्षि देवेन्द्रनाथ टागोर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले, आगरकर, लोकमान्य तिलक, पंडिता रामाबाई, गोपालकृष्ण गोखले, मादाम-ब्लेवास्की, श्रीमती ऐनी बेसन्ट,[१] दुर्गाशंकर महेता, नर्मद जैसे महानुभाव तथा ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना समाज, थियोसोफीकल सोसायटी, रामकृष्ण मिशन जैसी धार्मिक -

सामाजिक संस्थाओं के कारण भारतीय समाज एक नई करवट लेने लगता है। चारों तरफ नवसुधारवादी आन्दोलन लोगों में नई चेतना जगाने का कार्य सम्पन्न करते हैं। हिन्दु धर्म के मूलग्राही तत्वों के अन्वेषण का कार्य आरम्भ होता है। नारी शिक्षा का प्रचार, विधवा विवाह का प्रचार, अनमेल-विवाह तथा वृद्ध-विवाह का विरोध, जातिवाद का विरोध, अस्पृश्यता का विरोध जैसे सामाजिक मुद्दों को लेकर मुहीम चलाई जाती है। अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन होता है जिसमें नवोत्थानवादी लेखक अपने लेखों और निबन्धों के द्वारा समाज में नई चेतना को फूंकने का अनथक और अविकल प्रयास करते दृष्टिगत होते हैं। इसके साथ ही साथ नगरीकरण (Urbanization) एवं औद्योगिकरण (Industrialization) की प्रवृत्तियों के क्षिप्रगामी होने के कारण समाज एवं परिवार के मूलभूत ढाँचे में परिवर्तन लक्षित होने लगता है। कलकत्ता, मद्रास, बम्बई तथा दिल्ली जैसे महानगरों में विश्वविद्यालयों की स्थापना से समाज में शिक्षा का प्रचार-प्रसार बढ़ने लगता है। उक्त प्रवृत्तियों के कारण सामाजिक-मूल्यों तथा जीवन-मूल्यों में भी एक गुणात्मक परिवर्तन दिखाई पड़ता है। समाज का स्वरूप कुछ अधिक जटिल और पेचीदा होने लगता है। समाज की इस जटिलता (Complexity) के रूपायन के लिए किसी नये साहित्य रूप की उपादेयता अनुभव की जाने लगी। इन स्थितियों में भारतीय साहित्य में और उसके परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्य में उपन्यास जैसी विधा का आविर्भाव हुआ। अत: हम कह सकते हैं कि उपन्यास इस नये युग के नये समाज की चेतना का वहन करनेवाली विधा है। उसके उद्भव में सामाजिक नवसुधार की प्रेरणा अंतर्मुक्त रही है।

१:०१:०० 'उपन्यास' शब्द की व्याख्या :

ऊपर निर्दिष्ट किया गया है कि समाज की नयी चेतना के संवाहक के रूप में उपन्यास आविर्भूत हुआ है। यह एक नई साहित्यिक विधा है और

अंग्रेजी के 'Novel' से आविर्भूत हुई है । अधिकांश भारतीय भाषाओं में 'Novel' से निःश्रुत होने के कारण उसके नामकरण में 'Novel' से मिलते-जुलते शब्द अंगीकृत किए गए हैं - जैसे नवल, नवलकथा इत्यादि । गुजराती तथा मराठी में इस साहित्य प्रकार को 'नवलकथा' कहा गया । मराठी में इसे 'कादम्बरी' भी कहते हैं । परन्तु हिन्दी और बंगला में इस नई विधा को 'उपन्यास' जैसा नाम दिया गया । ध्वन्यात्मक दृष्टि से देखा जाय तो 'Novel' तथा 'उपन्यास' में किसी प्रकार का साम्य परिलक्षित नहीं होता है । तक फिर प्रश्न उठता है कि इन भाषाओं में उसे उपन्यास क्यों कहा गया होगा ? वस्तुतः 'उपन्यास' शब्द हम लोगों के लिए नया नहीं है । भरतमुनि के नाटयशास्त्र में 'उपन्यास' शब्द मिलता है । परन्तु वहाँ वह शब्द प्रतिमुखसंधि के एक उपभेद के रूप में आया है ।[२] वहाँ पर उसका अर्थघटन दो तरह से किया गया है - 'उपन्यासः प्रसादनम्' तथा 'उपपत्ति कृतो ह्यर्थः उपन्यासः ।' अर्थात् उपन्यास से मनोरंजन होता है और उसके द्वारा किसी बात को युक्तिपूर्वक प्रकट किया जाता है।[३] अतः ऐसा लगता है कि युरोप से आयातित इस नए साहित्य प्रकार में उक्त दोनों बातों के समावेश के कारण विद्वानों ने उसे यह नाम दिया होगा ।

१:०२:१: पश्चिम में उपन्यास का विकास :

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि उपन्यास (Novel) का उद्भव सर्वप्रथम पश्चिम में हुआ । औद्योगिक क्रांति तथा नगरीकरण की प्रक्रिया के कारण समाज के ढाँचे में आमूलचूल परिवर्तन घटित हुआ । इस परिवर्तन के फलस्वरूप मानव जीवन में जटिलता (Complexity) का समावेश हुआ । अतः उसके रूपायन के लिए किसी नई साहित्यिक विधा की आवश्यकता उत्पन्न हुई । इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु उपन्यास का आविर्भाव हुआ । उपन्यास को अंग्रेजी में 'Novel' कहा जाता है, और 'Novel' का अर्थ ही 'नया' ऐसा होता है । अतः इस विधा

के नाम से ही सिद्ध होता है कि पश्चिम में भी यह एक नई विधा थी। उपन्यास की तमाम परिभाषाओं के विहंगावलोकन से उसका एक व्यावर्तक लक्षण हमारे सम्मुख प्रकट होता है, और वह लक्षण यह है कि उपन्यास गद्य की विधा है। अत: उपन्यास के प्रणयन के लिए सक्षम और विकसित गद्य की आवश्यकता रहती है। अंग्रेजी साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो यह ज्ञापित हुए बिना नहीं रहेगा कि एडिसन, स्टील आदि गद्यलेखक के आविर्भाव तथा पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के पश्चात् जब अंग्रेजी गद्य वर्णन, विवेचन, विश्लेषण आदि के लिए सक्षम एवं परिमार्जित रूप में उपलब्ध होने लगा, उसके पश्चात् प्रस्तुत विद्या का आविर्भाव हुआ था।

सत्तरहवी शताब्दी में इटली के लेखक बोकासियो की कथात्मक कृति 'डेकामेरोन' उपलब्ध होती है, जिसमें विद्वानों को उपन्यास के कुछ अभिलक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। आंग्ल विवेचक राल्फ फोक्स महोदय ने इस संदर्भ में निर्देश दिया है -'Bocaccio first showed the most imortant feature of the Novelist, a curiosity about men and women.'[४]

'डेकामेरोन' के पश्चात फ्रांसीसी लेखक राबले की एक व्यंग्यविनोदपूर्ण कृति 'गार्गान्तुआ एण्ड पान्तागुएल' उपलब्ध होती है, जिसको हम 'डेकामेरोन' का अलग चरण कह सकते हैं। गार्गान्तुआ के पश्चात स्पेनीश लेखक सर्वान्तीस की विश्वविख्यात कृति 'डोनकिहोटे' प्रकट होती है। इसमें हमें सर्वप्रथम रोमान्टिक कपोलकल्पित पुराणकथित सामन्ती वीरों और राजकुमारियों के अद्‌भूत अयथार्थ पात्रों के स्थान पर ऐसे पात्र मिलते हैं जिनको हम अपने दैनिक जीवन में पहचान सकते हैं। यहाँ प्रकृति और परिवेश के वर्णनों में भी यथार्थपरख दृष्टि मिलती है। इस वस्तुपरक यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण भाषा भी आलंकारिकता के पाश से मुक्त होती है। अत: कतिपय आलोचकों का मानना है कि

'डोनकिहोटे' म्याख्यानों को समाप्त करने के लिए लिखा गया रम्याख्यान है। इसमें सर्वान्तीस ने अस्त हो रहे मध्ययुगीन युरोप को उसकी तमाम विसंगतियों और विद्रूपताओं के साथ चित्रित किया है।[५] इस प्रकार शनैः शनैः उपन्यास का आधुनिक रूप साकार होने लगता है।

'डोनकिहोटे' के पश्चात हमें जॉन बनियन (1628-1688) कृत 'द पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' (The Pilgrims Progress) नामक औपन्यासिक रचना मिलती है, जिसे हम गद्य में लिखी गई अन्योक्ति (Allegory) कह सकते हैं। प्रस्तुत रचना में एक कल्पित यात्रा की कथा के माध्यम से आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में साधक की कठिनाइयों का उल्लेख किया गया है।

ऊपर जिन गद्यकथाओं का उल्लेख किया गया है, उनको हम पूर्णरूपेण उपन्यास तो नहीं कह सकते, किन्तु इतना असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि ये गद्यकृतियाँ उपन्यास के समीपस्थ हैं और आगे चलकर उन्हीं से उपन्यास का यथार्थ निर्भ्रान्त रूप प्रकट होता है।

१:०२:२

अठारहवीं शताब्दी में हमें उपन्यास का निर्भ्रान्त स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। डेनियलडिफो, रिचार्डसन, जोनाथन स्विफ्ट, हेनरी फिल्डींग, स्मोलेट, लोरेन्स स्टर्न, गोल्डस्मिथ आदि इस समय के प्रमुख उपन्यासकार हैं और उनके चर्चित उपन्यासों में रोबिनसन क्रुसो, पामेला, गुलिवर्स ट्रावेल्स, अंकल टाम्स केबिन, विकार ऑफ विक फिल्ड आदि की गणना की जा सकती है। 'रोबिनस क्रुसो' को अंग्रेजी का प्रथम उपन्यास माना जाता है जिसके वर्णन बड़े सजीव हैं और उसमें चरित्रचित्रण की प्रवृत्ति भी दृष्टिगत होती है। 'गुलिवर्स ट्रावेल्स' में तत्कालीन समाज पर अच्छा खासा व्यंग्य किया गया है और उसमें रोचकता और

कौतूहल का तत्व भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। 'पामेला' की गणना चरित्र प्रधान उपन्यासों में की जाती है। परन्तु उसमें कुछ भावातिरेक की मात्रा अधिक पायी जाती है। इस प्रकार इस समय के उपन्यासों में हास्य व्यंग्यपूर्ण चरित्र चित्रण के साथ साथ हमें पारिवारिक जीवन की झांकी मिलती है। इस तरह से देखा जाए तो अठारहवीं शताब्दी में पारिवारिक उपन्यासों (Domestic Novel) का सूत्रपात हो गया था।[६]

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में अंग्रेजी उपन्यास में 'सर वोल्टर स्कोट' और 'जेन ओस्टीन' के कारण एक नया मोड़ आया। यद्यपि इन दोनों उपन्यासकारों की प्रवृत्तियाँ भिन्न भिन्न दिशाओं में अग्रसरित होती है, तथापि एक बात में वे दोनों समान हैं। वह बात यह है कि इन दोनों उपन्यासकारों ने तत्कालीन मध्यवर्गीय जीवन के कटु यथार्थ को अनदेखा कर दिया है। 'सर वोल्टर स्कोट' इसके लिए इतिहास का पल्ला पकडते हैं और वेवर्ली नावेल्स के रूप में ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रणयन करते हैं जिसमें वे उच्च, कुलीन, सम्भ्रान्त वर्ग के चरित्रों को प्राधान्य देते हैं। उनकी यह प्रवृत्ति अपने यहाँ के 'जयशंकर प्रसाद' से मेल खाती है। अंतर यह है कि प्रसादजी नाटक लिखते हैं और स्कोट नोवेल्स। जेन ओस्टिन अपने उपन्यासों में सम्पन्न, सम्भ्रान्त और अभिजात वर्ग के जीवन को लेकर आती हैं। 'प्राइड एण्ड प्रेज्युडाइस' तथा 'सेन्स एण्ड सेन्सीबिलिटी' उनके प्रमुख सामाजिक उपन्यास हैं। जोन ओस्टिन के उपन्यासों को 'Novels of manners' (शिष्टाचार के उपन्यास) कह सकते हैं। जेन आस्टिन के उपन्यासों के संदर्भ में डॉ. भारत भूषण अग्रवाल लिखते हैं - "इसलिए वे (ओस्टिन के उपन्यास) जीवन के विस्तार अथवा संघर्ष का कोई व्यापक चित्र न देकर अत्यंत सूक्ष्म, कोमल और सीमित पारिवारिक चित्र देती हैं। यद्यपि ये चित्र अपनी निर्ममता और विश्वसनीयता में अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं और जेन आस्टिन को सदा-सर्वदा के लिए उपन्यासकारों की प्रथम श्रेणी में

पहुँचा देते हैं।''[७] जेन आस्टिन की इस प्रवृत्ति की तुलना हम हिन्दी के अज्ञेय से कर सकते हैं।

१:०२:३

अंग्रेजी उपन्यास साहित्य में उन्नीसवीं शताब्दी का महत्व अपरिहार्य है। इसमें हमें विश्व विख्यात उपन्यासकारों की एक लम्बी फेहरिश्त मिलती है, जिसमें डिकीन्स, थेकरे, टोमस हार्डी, एलेक्जान्डर ड्यूमा, विक्टर ह्युगो, स्तानधाल फलोबेर, एमिलजोला, बाल्जाक, गोगोल, तुर्गनेव, टोल्स्टोय, दोस्तोयवस्की, जोर्ज इलियट, जोर्ज मेरिडिथ आदि की गणना कर सकते हैं। इन उपन्यासकारों ने अपने समय के मनुष्य और समाज को उसकी विविधता और समग्रता में प्रस्तुत किया है। इस संदर्भ में डॉ. भारतभूषण अग्रवाल लिखते हैं - ''डिकिन्स और थेकरे के उपन्यासों में साधारण पात्रों के प्रति सहानुभूति की प्रधानता है, मेरिडिथमें बौद्धिक जिज्ञासा और मनोस्थितियों का विश्लेषण और टोमस हार्डी में मिट्टी की सुगंध के साथ-साथ नियति के सम्मुख व्यक्ति की विवशता, बाल्जाक और स्तान्धाल में व्यंग्य प्रहार की तीव्रता अधिक है, जबकि विक्टर ह्युगो और ड्यूमा अपने अंग्रेज समसामयिकों के अधिक निकट है। फ्लाबेयर इन सबसे भिन्न हैं जो अपने उपन्यास 'मादाम बोवरी' के माध्यम से नारी जीवन की कारूणिक झांकी ही नहीं देता, अपने सधे हुए कला-कौशल से उपन्यास-विधा का अत्यंत उत्कृष्ट रूप भी प्रस्तुत करता है। उधर रूसी लेखक गोगोल यदि बाल्जाक के आसपास हैं तो तुर्गनेव अपनी कल्पनाशीलता और कवित्व से अपनी अद्वितीयता सिद्ध करते हैं। काउन्टलियो टोलस्टाय अपने उपन्यास 'वोर एण्ड पीस' द्वारा उसकी महाकाव्यिक परिभाषा को फिर सार्थक करते हैं और विश्वसाहित्य को अन्यतम कृति प्रदान करते हैं तो दोस्तोयवस्की अपनी विशद् कृतियों द्वारा अपने समाज की विषमताओं का तीक्ष्ण विश्लेषण उपस्थित करते हैं।''[८]

१९वीं शताब्दी के पाश्चात्य औपन्यासिकों के संदर्भ में डॉ. भारतभूषण अग्रवाल लिखते हैं - ''१९वीं शताब्दी विश्व उपन्यास के इतिहास का अत्यन्त गौरवशाली अध्याय है । जब इंग्लैण्ड, फ्रान्स और रूस तीनों देशों में अनेक प्रतिभाओं का आविर्भाव हुआ जिन्होंने उपन्यास विधा की बहुमुखी शक्तियों और संभावनाओं का अन्वेषण किया और उसे समकालीन जीवन का अत्यन्त समर्थ वाहन सिद्ध किया । नि:सन्देह उनमें परस्पर बहुत अंतर है, डिकिन्स के अनगढ उपन्यासों से लेकर दोस्तोयवस्की के सूक्ष्म-सटीक चित्रण तक उनमें अनेक रूचियाँ, प्रवृत्तियाँ, व्यक्तित्व और देशकाल जनित विविधताएँ मिलती है, पर अपने समग्र रूप में वे साहित्य में उपन्यास के गौरव की प्रतिष्ठा की घोषणा करते हैं । पात्रों का जीवंत चित्रण विवरण की सूक्ष्म पकड़, परिवेश के चित्रण की यथार्थता, मन:स्थितियों का क्रमिक विश्लेषण और जीवन के निष्ठावान प्रतिबिम्बन की दृष्टि से ये कृतियाँ उपन्यासकला की पौढ़ता के प्रमाण हैं ।''[९]

डिकिन्स ने अपने उपन्यासों के द्वारा अनेक स्मरणीय चित्र प्रदान किए हैं उनके उपन्यासों में चरित्रों का वैविध्य प्रभूत मात्रा में पाया जाता है । उनमें वस्तुवाद के साथ-साथ भावातिरेक की प्रवृत्ति भी मिलती है । हमारे यहाँ के प्रेमचन्द की भाँति डिकिन्स ने मध्य और निम्न श्रेणी के पात्रों का सूक्ष्म एवं सटीक आकलन किया है । दूसरी ओर थेकरे के उपन्यासों में उच्चवर्गीय लोगों के जीवन को उकेरा गया है । चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी यहाँ उपलब्ध होता है । मनोवैज्ञानिक चित्रण के संदर्भ में ज्योर्ज इलियट, ज्योर्ज मेरिडिथ, टोमस हार्डी तथा मिसीस हम्फरीवार्ड के नाम विशेष उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं । ये उपन्यासकार पाश्चात्य साहित्य में आधुनिकता के अग्रदूत माने जाते हैं ।[१०]

१:०२:४

विश्व के इतिहास में बीसवीं शताब्दी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, दार्शनिक ओर वैज्ञानिक द्वन्द्वो एवं अन्तर्द्वन्द्वो की शताब्दी रही है । दो-दो विश्वयुद्धों के कारण धार्मिक, नैतिक मूल्यों के प्रति अनास्था की स्थिति मिलती है । फलत: बहुत से विद्वानों ने इस शताब्दी के उपन्यासों को मोहभंग का उपन्यास भी कहा है । इस कालखण्ड के उपन्यासकारों को एक तरफ फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिक प्रभावित करते हैं तो दूसरी ओर कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्गसंघर्ष की अनिवार्यता का उन पर गहरा प्रभाव पडता है । फलत: यथार्थवाद की दो प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं - आन्तरिक या चैतसिक यथार्थ तथा समाजवादी यथार्थ । मोहभंग के साथ-साथ इस समय हमें सामाजिक विघटन की प्रक्रिया भी दृष्टिगोचर होती है । विश्वयुद्धों की विभिषिका ने समाज और परिवार को ही नहीं प्रत्युत् मूल्यों का भी विघटन कर दिया है । इस शताब्दी का व्यक्ति अनास्था, निराशा, कुंठित और छिन्न भिन्न अवस्था में मिलता है । हिन्दी उपन्यासकार निर्मल वर्मा का 'वे दिन' उपन्यास युरोप की महायुद्धोत्तर दिशाहारा पीढ़ी के संत्रास, घुटन, तनाव, मूल्यहीनता, अर्थहीनता और उसके रीतापन को रूपायित करनेवाला उपन्यास है ।[११] इस उपन्यास की नायिका रायना एक स्थान पर कहती है - "लेकिन कुछ चीजें हैं जो लड़ाई के बाद मर जाती हैं - शान्ति के दिनों में . . . हम उनमें से एक थे . . . वे लोग घरेलू जिन्दगी में खप नहीं पाते ... मैं किसी काबिल नहीं रह गई हूँ . . . नाट इवन फोर लव, पीस कील्ड इट ।"[१२]

संक्षेप में कहा जा सकता हे कि पाश्चात्य औपन्यासिक साहित्य में यह सदी मोह भंग और विघटन की सदी है । इस समय के प्रमुख उपन्यासकारों में एच. जी. वेल्स, गार्ल्सवर्दी, डी. एच. लोरेन्स, वर्जिनिय वुल्फ, मार्सेल प्रुस्त,

जेम्स जायस, आल्डुस हक्सले, काफ्का, सोल्जेनित्सिन, आईजाक सिंगर, जारोस्लाव सैइफर्त, मार्कवेज इत्यादि की परिगणना कर सकते हैं । अत्याधुनिक उपन्यास खण्डित यथार्थ का उपन्यास है । इस खंडित यथार्थ की अभिव्यक्ति एक ऐसी विविधता तक पहुँच गई है जिसे ऊपरी दृष्टि से अराजकता कहा जा सकता है । जब जीवन के सारे मूल्य बिखर चुके हों तो कलाकार अपने भोगे हुए अनुभव और देखे हुए सत्य को निर्ममता के साथ अभिव्यक्त करने के अलावा कर भी क्या सकता है । आज का मनुष्य छिन्न-भिन्न है और इस छिन्न-भिन्न और खण्डित मानवता का प्रतिबिंब हमें इधर के उपन्यासों में दृष्टिगोचर हो रहा है ।

१:०३:१ हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकास

अन्य भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी में भी उपन्यास का आविर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ । टेकचन्द ठाकुर कृत बंगला का प्रथम उपन्यास 'आलालेर घरेर दुलाल' सन् १८५७ में प्रकाशित हुआ था । लगभग उसी के आसपास बाबा पदमनजी कृत मराठी उपन्यास 'यमुना पर्यटन' उपलब्ध होता है । गुजराती का प्रथम उपन्यास 'करणधेलो' सन् १८६८ में उपलब्ध होता है । उसके लेखक नन्दशंकर तुलजाशंकर महेता थे ।[१३]

हिन्दी के प्रथम उपन्यास के रूप में लाला श्री निवासदास कृत 'परीक्षागुरू', पंडित श्रद्धाराम फुल्लोरी कृत 'भाग्यवती', इंशाअल्लाह खां द्वारा प्रणीत 'रानी केतकी की कहानी', राधाकृष्णदास द्वारा लिखित 'नि:सहाय हिन्दू', मुन्शी ईश्वरी प्रसाद कृत 'देवरानी-जेठानी की कहानी' आदि उपन्यासों की चर्चा होती रही है ।[१४] परन्तु अब अधिकांश विद्वानों ने इस तथ्य को अंगीकृत कर लिया हे कि पंडित श्रद्धाराम फुल्लोरी कृत 'भाग्यवती' हिन्दी का प्रथम उपन्यास है । उसका रचनाकाल सन् १८७८ है । इस प्रकार हिन्दी उपन्यास का इतिहास लगभग १२० वर्षों का है । हिन्दी उपन्यास को उसका वास्तविक गौरव मुन्शी प्रेमचन्द द्वारा

प्राप्त हुआ । अत: हिन्दी उपन्यास के विकासक्रम के सोपानों को निश्चित करते समय स्वाभाविक है कि प्रेमचन्द के नाम को केन्द्र में रखा जाय । अत: अधिकांश विद्वानों ने हिन्दी उपन्यास के विकास को निम्नलिखित तीन सोपानों में विभक्त किया है - (१) पूर्व प्रेमचन्द काल (२) प्रेमचन्दकाल तथा (३) प्रेमचन्दोत्तरकाल ।

एक लेखक के रूप में प्रेमचन्द का आविर्भाव सन् १९१८ में 'सेवासदन' के प्रकाशन के साथ हुआ । अत: सन् १८७८ से सन् १९१८ तक की अवधि को 'पूर्वप्रेमचन्द काल' नाम से अभिहित किया गया । औपन्यासिक विकास की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास का यह प्रारंभकाल था । अत: इस समय हिन्दी में जो उपन्यास मिलते हैं वे औपन्यासिक कला, चरित्र चित्रण, यथार्थता आदि की दृष्टि से अविकसित, अपरिपक्व एवं कुछ कमजोर प्रतीत होते हैं । विचारधारा की दृष्टिसे इस कालखण्ड में हमें दो प्रकार के लेखक मिलते हैं - नवसुधारवादी तथा सनातन पंथी । नवसुधारवादी लेखक आर्यसमाज, ब्रह्मोसमाज, प्रार्थना समाज, थियोसोफिकल सोसायटी, अंग्रेजी शिक्षा आदि से प्रभावित थे । वे सदियों से जंजीरों में जकड़े हुए भारतीय समाज को अग्रसरित करना चाहते थे । फलत: समाजविरोधी एवं प्रगति विरोधी रूढियों का वे विरोध करते थे । 'भाग्यवती' (पं. श्रद्धाराम फुल्लौरी), 'परीक्षागुरू' (लाला श्रीनिवासदास), 'सो अजान एक सुजान' (पं. बालकृष्ण भट्ट), 'अधखिला फूल' (अयोध्यासिंह उपाध्याय), 'रामलाल' (मन्नन द्विवेदी) प्रभृति उपन्यासों में हमें ऊपर निर्दिष्ट नवसुधारवादी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं । दूसरी तरफ 'स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी' (महेता लज्जाराम शर्मा), चपला (पं.किशोरीलाल गोस्वामी), नि:सहाय हिन्दू (राधाकृष्णदास) जैसे उपन्यासों में हमें उनके लेखकों का सनातनपंथी दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है ।

औपन्यासिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से प्रस्तुत कालखण्ड में हमें निम्नलिखित पाँच प्रकार की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ मिलती हैं - (१) सामाजिक उपन्यास, (२) ऐतिहासिक उपन्यास, (३) तिलस्मी उपन्यास, (४) जासूसी उपन्यास, (५) अनूदित उपन्यास । उक्त औपन्यासिक प्रकारों में तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों की गणना कभी गंभीर एवं स्तरीय उपन्यासों की कोटि में नहीं हुई, परन्तु उपन्यास का प्रारम्भकाल होने के कारण तथा इन उपन्यासों ने उपन्यास विधा को लोकभोग्य बनाया इस कारण से उनकी यत् किंचित चर्चा इस प्रारंभिक कालखण्ड में हुई है । इस प्रकार के उपन्यास बाद में भी लिखे गये हैं, अभी भी लिखे जाते हैं परन्तु बाद के कालखण्डों में कभी साहित्यिक उपन्यासों में उनकी गणना नहीं हुई । अनूदित उपन्यास मूल भाषा की धरोहर होती है। अत: उनका उल्लेख बाद के कालखण्डों में नहीं हुआ है ।

प्रेमचन्द के पूर्वकाल के सामाजिक उपन्यासों में भाग्यवती (श्रद्धाराम फुल्लौरी), परीक्षागुरु (लाला श्रीनिवासदास), नूतन ब्रह्मचारी, सो अजान एक सुजान (पं. बालकृष्ण भट्ट), निस्सहाय हिन्दू (राधाकृष्णादास), धूर्त रसिकलाल, स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी, बिगड़े का सुधार (महेता लज्जाराम शर्मा), त्रिवेणी, लीलावती, चपला, सौतिया डाह (पं. किशोरीलाल गोस्वामी), अधखिला फूल, ठेठ हिन्दी का ठाठ (अयोध्यासिंह उपाध्याय), सौंदर्योपासक, राधाकान्त (ब्रजनन्दन सहाय), श्यामास्वप्न (ठाकुर जगमोहन सिंह), रामलाल, कल्याणी (मन्नन द्विवेदी) आदि उपन्यासों की गणना कर सकते हैं । इनमें से अधिकांश उपन्यास वर्णनात्मक शैली में लिखे गये हैं । 'सौंदर्योपासक' तथा 'राधाकान्त' आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये हैं । 'सौंदर्योपासक' आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया हिन्दी का प्रथम उपन्यास हैं । इसकाल के अधिकांश उपन्यास तत्कालीन, सामाजिक रूढियों के पक्ष या विपक्ष में लिखे गये हैं । औपन्यासिक कला की दृष्टि से ये उपन्यास अविकसित एवं अपरिपक्व कहे जा सकते हैं । उपन्यासों में अब तक

चरित्र चित्रण की कोई विशेष समझ उत्पन्न नहीं हो पाई है। उपन्यासकार आम तौर पर अपने उपन्यास के पात्रों को 'सु' और 'कु' के खानों में विभाजित कर देते थे। अच्छे पात्र बेहद अच्छे होते थे और खल पात्र बेहद बुरे होते थे।[१५]

प्रेमचन्द पूर्वकाल की दूसरी औपन्यासिक प्रवृत्ति है - ऐतिहासिक उपन्यासों की। ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक वृत्तांतों के आधार पर उपन्यास का आलेखन होता है। इस युग के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासकार तो पं. किशोरीलाल गोस्वामी हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त और भी कुछ लेखकों ने ऐतिहासिक उपन्यास को लिखने का प्रयास किया है। इस कालखण्ड के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासों में तारा, मस्तानी, सुलताना - रजिया, बेगम, हृदयहारिनी, मल्लिकादेवी (पं. किशोरीलाल गोस्वामी); नूरजहां, कुमार सिंह सेनापति, हम्मीर (गंगाप्रसाद गुप्त); काश्मीरपतन, वाजिद अली शाह, चांदबीबी, नूरजहां बेगम (जयरामदास गुप्त); अनारकली, पृथवीराज चौहान, पानीपत (बलदेवप्रसाद मिश्र); लालचीन (बाबू व्रजनंदन सहाय); वीरमणि (मिश्र बन्धु); आदि की परिगणना की जा सकती है।[१६] इस कालखण्ड के ऐतिहासिक उपन्यास प्रायः राजपूतयुग, मुसलमान युग तथा मोगलयुग पर आधारित हैं और उनमें ऐतिहासिक यथार्थ की अपेक्षा कल्पनाप्रसूत रोमानीपन, भावुकता का अतिरेक दृष्टिगोचर होता है। उनमें ऐतिहासिक तथ्यों के साथ खिलवाड करने की प्रवृत्ति भी मिलती है। कदाचित् इसीलिए डॉ. भारतभूषण अग्रवाल ने इन उपन्यासों को ऐतिहासिक उपन्यास न क हकर, ऐतिहासिक रम्याख्यान (Historical Romances) कहा है।[१७]

तिलस्मी उपन्यास जादू, टोना, तंत्र-मंत्र तथा आसुरी एवं दैवी चमत्कारों पर आधारित होते हैं। '' 'तिलस्म' शब्द यूनानी 'टेलेस्मा' और अरबी 'तिलस्म' का हिन्दी संस्करण है। इसका अर्थ जादू, इन्द्रजाल या अलौकिक रचना या गड़े हुए धन आदि के ऊपर बनायी गई सर्पादि की भयावनी आकृति है। प्राचीन काल

में राजा और धन-संपन्न लोग तिलस्मी किले और महल बनवाते थे । तिलस्मी महल प्राय: किसी बहुत बड़े खजाने के ऊपर बनाया जाता था । प्राय: खजाना गाडनेवाले को वंश में होनेवाला कोई प्रतापी पुरूष ही तोड़कर खजाना प्राप्त करता था । तिलस्म बाँधने में बडे-बडे ज्योतिषियों, तांत्रिकों और गुणियों की सहायता ली जाती थी । सामान्यत: जिन उपन्यासों में नायक द्वारा तिलस्मी महलों को तोड़कर खजाना प्राप्त करने की कथा वर्णित होती है उन्हें तिलस्मी उपन्यास कहते हैं ।''[१८] तिलस्मी उपन्यासों के लिए बाबू देवकीनन्दन खत्री का नाम विख्यात है । उन्होंने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' बाइस भागों में लिखे हैं । उनका 'भूतनाथ' उपन्यास आठ भागों में है । बाबू देवकीनन्दन खत्री में प्रबन्ध नियोजना की शक्ति गजब की थी । उनके उपन्यासों में सैंकड़ों घटनाएँ और हजारों पात्र होते हैं परन्तु इन सबका निर्वाह वो भलीभाँति करते थे । उस समय उनकी यह उपन्यासमाला अत्यन्त लोकप्रिय हुई थी और बहुत से अहिन्दी भाषी लोग इसलिए हिन्दी सीख रहे थे, ताकि 'चन्द्रकान्ता' को पढ़ा जा सके । जिस प्रकार 'अरेबीयन नाईटस' में कथा से कथा का जन्म होता चला जाता है उसी प्रकार की टेकनीक को इसमें अंगीकृत किया है । दूरदर्शन ने खत्रीजी के इन उपन्यासों को लेकर एक धारावाहिक का निर्माण किया था जिसकी गणना दूरदर्शन के सफलतम धारावाहिकों में की जा सकती है । अत: कहा जा सकता है 'चन्द्रकान्ता' को चाहनेवाले लोग इस युग में भी मौजूद हैं ।

तिलस्मी उपन्यासों की भाँति जासूसी उपन्यास भी इस काल की एक प्रमुख प्रवृत्ति है । जिस प्रकार तिलस्मी उपन्यासों में बाबू देवकीनन्दन खत्री का नाम है ठीक उसी प्रकार जासूसी उपन्यासों के क्षेत्रों में बाबू गोपालराम गहमरी का नाम है । बाबू गोपालराम गहमरी ने दो सौ (२००) के करीब जासूसी उपन्यास लिखे होंगे । ऐसा प्रतीत होता है कि उनका समग्र व्यक्तित्व जासूसी लेखन के प्रति समर्पित था । उन्होंने 'जासूस' नामक एक पत्र का भी प्रकाशन

किया था। उसमें जासूसी कहानियाँ तथा जासूसी उपन्यास (धारावाहिक रूप में) प्रकाशित होते थे। इस क्षेत्र में उनका इतना नाम हो गया था कि लोग उनको हिन्दी का 'कानन डायल' कहते थे।

प्रेमचन्द पूर्वकाल में अनूदित उपन्यासों की भी बहुलता रही। अंग्रेजी के रोनाल्ड बंगला के रमेशचन्द्र दत्त, बंकिम, तारकनाथ बाली आदि लेखकों के कई-कई उपन्यास हिन्दी में अनूदित हुए। मराठी, गुजराती, उडिया, पंजाबी आदि भाषाओं के उपन्यासों के भी हिन्दी में अनुवाद होते रहते थे। गुजराती के 'धूर्त रसिकलाल' का अनुवाद महेता लज्जाराम शर्मा ने किया था। अनूदित उपन्यासों ने तत्कालीन हिन्दी उपन्यास को गति और दिशा प्रदान करने का कार्य किया।

इस प्रकार प्रेमचन्द पूर्वकाल के उपन्यासों ने वास्तविक हिन्दी उपन्यास के लिए आगे का मार्ग प्रशस्त किया। यद्यपि औपन्यासिक कला की दृष्टि से इन उपन्यासों को अविकसित और अपरिपक्व कह सकते हैं, तथापि उपन्यास की प्रारम्भिक अवस्था को देखते हुए इनके ऐतिहासिक महत्व को नकारा नहीं जा सकता।

१.०३:२: हिन्दी उपन्यास का विकास :

प्रेमचन्द काल :

प्रेमचन्द के लेखकीय जीवन का प्रारम्भ तो सन् १९०१ से ही हो गया था। प्रारम्भ में वे उर्दू में लिखा करते थे। उनके कई उपन्यास भी पहले उर्दू में प्रकाशित हुए। 'सोजे वतन' की कहानियों के कारण वे ब्रिटीश सरकार के कोपभाजन हुए। 'सोजे वतन' की तमाम प्रवृत्तियों को जप्त कर लिया गया। फलत: नवाबराय को प्रेमचन्द नाम धारण करके हिन्दी में आना पडा। हिन्दी में

सर्वप्रथम सन् १९१८ में उनका उपन्यास 'सेवासदन' प्रकाशित हुआ। 'सेवासदन' के प्रकाशन साथ ही हिन्दी जगत में एक तहेलका-सा मच गया। इसे हम हिन्दी का प्रथम वास्तविक उपन्यास कह सकते है। हिन्दी उपन्यास साहित्य के समालोचक डॉ. रामदरश मिश्र इस उपन्यास के संदर्भ में लिखते हैं - ''सेवासदन उपन्यास कला और समस्याओं की पकड़ तथा चित्रण दोनों दृष्टियों से पहला परिपक्व उपन्यास है।''[१९] डॉ. रामविलस शर्मा के शब्दों में 'चन्द्रकान्ता' और 'तिलस्मे होशरूबा' के पढ़ने वाले लाखों थे प्रेमचन्द ने इन लाखों पाठकों को अपनी तरफ ही नहीं खींचा, 'चन्द्रकान्ता' में अरूचि भी पैदा की। जनरूचि के लिए उन्होंने नए मापदंड कायम किए और साहित्य के नए पाठक और पाठिकाएँ भी पैदा किये। यह उसकी जबरदस्त सफलता थी।[२०]

समस्याओं की पकड़, व्यंग्यात्मकता, कथा-संगठन तथा चरित्रचित्रण आदि की दृष्टि से सेवासदन एक परिपक्व उपन्यास प्रतीत होता है। उर्दू में 'बाजारे हुस्न' नाम से यह पहले प्रकाशित हुआ था, परन्तु हिन्दी में उसका प्रकाशन सन् १९१८ में हुआ। इसमें प्रेमचन्द की चौमुखी सामाजिक दृष्टि का हमें सर्वप्रथम परिचय होता है।

प्रेमचन्द के आगमन से हिन्दी उपन्यास में नए युग का प्रारम्भ होता है। उपन्यास साहित्य की सृष्टि जिस उद्देश्य को लेकर हुई उस उद्देश्य की पूर्ति प्रेमचन्द के द्वारा हुई है। प्रेमचन्द ने पहली बार उपन्यास के मौलिक क्षेत्र, स्वरूप और उद्देश्य को पहचाना। इस संदर्भ में डॉ. रामदरश मिश्र का निम्नलिखित मंतव्य विचारणीय रहेगा - ''अक्सर कहा जाता है कि प्रेमचन्द ने पहली बार इस सत्य को पहचाना कि उपन्यास सोद्देश्य होने चाहिए अर्थात् उपन्यास या कोई भी साहित्यिक विधा मनोरंजन के लिए नहीं होती वरन् वह मानव जीवन को शक्ति और सुंदरता प्रदान करनेवाली सोद्देश्य रचना होती है। सोद्देश्यता हिन्दी उपन्यास

क्षेत्र में पहले-पहल प्रेमचन्द में ही व्यक्त हुई और सोद्देश्यता ही प्रेमचन्द की उपन्यासों की सफलता का रहस्य है यह कहना गलत है ।. सोद्देश्यता (सोद्देश्यता का प्रयोग में किसी नैतिकता की स्थापना या समाधान की प्रतिष्ठा या उपदेश के नियोजन के स्थूल अर्थ में कर रहा हूँ) तो भारतेन्दुकालीन और द्विवेदीकालीन साहित्य की खास चीज थी । 'परीक्षागुरू' 'सो अजान एक सुजान' 'नूतन ब्रह्मचारी' और तत्कालीन सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में उपदेशमूलक उद्देश्यपरकता बहुत नंगी होकर उभरी हे और यह उद्देश्यपरकता भी इन उपन्यासों को शक्ति नहीं दे सकी बल्कि उन्हें कला की स्तर से गिराने में सहायक ही हुई । फिर प्रेमचन्द की क्या विशेषता हे जो उनके उपन्यासों को पूर्व के उपन्यासों से अलग कर उपन्यास साहित्य की स्थायी निधि बनाने में समर्थ हुई । मैं मानता हूँ वह विशेषता है उनकी यथार्थ की पकड । यथार्थ सतह पर फैली हुई गंदगी नहीं है बल्कि मानव-जीवन के बुनियादी प्रश्न उसके अनेकानेक बाहरी भीतरी स्वरूपों को बनानेवाली, बदलनेवाली परिस्थितियाँ, समस्याएँ, आपसी सम्बन्ध और मानव मन के भीतर के अनेक गहन रहस्यमय सत्य यथार्थ हैं ।"[२१]

वस्तुत: अपने समय के यथार्थ को पकडने की जो पैनी और सूक्ष्म दृष्टि प्रेमचन्द के पास थी वह बहुत कम लोगों के पास होती है । प्रेमचन्द में हमें एक क्रमिक विकास मिलता है । यह विकास तीनों दृष्टियों से हैं - वस्तु की दृष्टि से, विचारधारा की दृष्टि से और औपन्यासिक कला की दृष्टि से । वस्तु की दृष्टि से विचार करें तो प्रेमचन्द का लेखन स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर, सीमितता से व्यापकता की ओर गया है । विचारधारा की दृष्टि से विचार करें तो प्रेमचन्द क्रमश: आर्यसमाज, आर्यसमाज से गांधीवाद और गांधीवाद से मार्क्सवाद की ओर अग्रसरित हुए हैं । कला की दृष्टि से देखा जाए तो प्रेमचन्द रोमानी भावुकतापूर्ण आदर्शवाद से आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद और आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद से यथार्थवादी कला की बुलन्दियों को स्पर्श करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं ।

प्रेमचन्द एक 'बने हुए लेखक' न होकर 'बनते हुए लेखक' हैं। यदि 'मंगलसूत्र' पूरा होता तो कदाचित् वह 'गोदान' की कलात्मकता को लाँघ जाता।

प्रेमचन्द ने देखा कि हमारे देश में जो शोषण की प्रक्रिया है वह चतुर्मुखी है - (१) दलितों का शोषण, (२) नारी का शोषण, (३) गरीब मजदूर और किसानों का शोषण तथा (४) अंग्रेजों द्वारा समग्र राष्ट्र का शोषण। प्रेमचन्द ने इन सभी प्रकार के शोषणों के खिलाफ कलम चलाई है। प्रेमचन्द के पुत्र अमृतराय ने उनकी जो जीवनी लिखी है उसका नाम है - 'कलम का सिपाही'। प्रेमचन्द सच्चे अर्थों में कलम के सिपाही थे। उन्होंने अपने समय के सत्य को किसी की परवाह किये बिना बेलौस और बेलाग ढंग से चित्रित किया है। सन् १९८४ के नोबल पुरस्कार विजेता चेक कवि जरोस्लाव सेइफर्त ने कहा था - "यदि सामान्य मनुष्य ऐसे समय में (जब देश या समाज संकटों से गुजर रहा हो) मौन रहता है तो उसमें उसकी कोई योजना हो सकती है, किन्तु ऐसे समय में यदि लेखक मौन रहता है तो वह झूठ बोल रहा है।"[२२] और इतना तो असंदिग्धतया कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द अपने समय के सत्य को कहने में मौन नहीं रहे हैं। जब देश या समाज संक्रान्ति से गुजरता है, उस समय उस देश के लेखकों, कवियों और साहित्यकारों का उत्तरदायित्व होता है, धर्म होता है कि बड़े से बड़ा खतरा उठाकर भी वे अपने समय के सत्य को उजागर करें। प्रेमचन्द ने अपने उत्तरदायित्व और धर्म को निभाया है ऐसा कह सकते हैं।

प्रेमचन्दजी के प्रमुख उपन्यासों में 'सेवासदन' (१९१८), 'प्रेमाश्रम' (१९२०), 'रंगभूमि' (१९२५), 'कायाकल्प' (१९२६), 'निर्मला' (१९२६), 'प्रतिज्ञा' (१९२९), 'गबन' (१९३०), 'कर्मभूमि' (१९३२), 'गोदान' (१९३६), 'मंगलसूत्र' (अपूर्ण-१९३६) आदि की गणना कर सकते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया इन उपन्यासों में प्रेमचन्दजी ने भारतीय समाज की किसी-न-किसी

प्रकार की समस्या को उद्‌घाटित किया है। प्रेमचन्दजी की औपन्यासिक कला का चरम उत्कर्ष हमें 'गोदान' में उपलब्ध होता है। 'मंगलसूत्र' में उन्होंने देवकुमार नामक एक साहित्यकार के जीवन को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। देवकुमार में प्रेमचन्दजी की प्रतिमूर्ति मिलती है जो अपनी आदर्शवादिता में घर के सभी सदस्यों को असंतुष्ठ करते हैं। परन्तु दुनिया में चारों तरफ अन्याय, अत्याचार, शोषण का जो दमनचक्र चल रहा है उससे आक्रान्त होकर देवकुमार का मन शनै: शनै: साम्यवाद की ओर झुकने लगता है और उन्हें विश्वास हो जाता है कि जब तक संसार में समानता नहीं आयेगी तब तक न तो मानव ही उन्नति कर सकता है और न ही मानवता पनप सकती है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि यदि 'मंगलसूत्र' पूरा होता तो हिन्दी जगत को गोदान से भी उत्कृष्ट कोटि की रचना मिलती।

फिलहाल तो यही कहा जा सकता है कि 'गोदान' प्रेमचन्दजी की प्रौढ़तम रचना है। सामाजिक शोषण के खिलाफ जो आवाज सेवासदन से उठी थी, गोदान में वह और व्यापक फ्लक को समेट कर अपनी बुलन्दी की ओर पहुँच गई है। प्रेमचन्दजी की मृत्यु पर कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बहुत खिन्नता के साथ कहा था - ''एक रत्न मिला था तुमको (हिन्दी वालों को), तुमने खो दिया''।[२३] इस संदर्भ में डॉ. पारूकान्त देसाई लिखते हैं - ''हिन्दीवालों ने उस रत्न को तो खो दिया, पर उस रत्न की ओर से मिला हुआ 'गोदान रूपी रत्न' तो हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है''।[२४] 'गोदान' में प्रेमचन्द की विकसित होती हुई यथार्थवादी दृष्टि का चरमोत्कृष्ट रूप उपलब्ध होता है। हिन्दी उपन्यास साहित्य के अध्येता डॉ. एस. एन. गणेशन इस संदर्भ में लिखते हैं - 'अप्रयोगिक आदर्शों, अपरीक्षित सिद्धांतों तथा अर्ध-परीक्षित वादों से अपने आपको सम्बन्ध रखने के कारण उनके पूर्वलिखित उपन्यासों में जो विफलताएँ या दुर्बलताएँ प्रगट हुई थीं, उन सबसे बहुत कुछ मुक्त हो कर वे यहाँ जीवन-मात्र को व्यंजित

करनेवाली यथार्थवादी कला के राजपथ से अग्रसर होते हुए दिखते हैं । ---- कथाकथन की कुशलता, चरित्र-चित्रण की सुचारूता आदि प्रेमचन्द के जितने गुण उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में प्रकट हो चुके थे, वे इसमें अधिक निखरे हुए रूप में प्रत्यक्ष हुए हैं । पटभूमि अधिक विस्तृत हो गई है, मनोभावों का विश्लेषण अधिक गहरा हो गया है, जीवन की व्याख्या का दृष्टिकोण अधिक संतुलित हो गया है, और इस तरह 'गोदान' यथार्थवाद की दृष्टि से उनके अन्य उपन्यासों से कोसों दूर आगे बढ आया है'' ।[२५]

संक्षेप में प्रेमचन्दजी की औपन्यासिक विशेषताओं में सोद्देश्यता, मानवीयसंवेदना, मनोवैज्ञानिकता, आदर्श से यथार्थ की ओर क्रमशः विकास, समस्याओं की सूक्ष्म पकड़, राष्ट्रीयता इत्यादि की परिगणना की जा सकती है । मानवीय संवेदना प्रेमचन्द साहित्य का प्रधान स्वर है । इस संदर्भ में आधुनिकों के अग्रगामी ऐसे अज्ञेयजी ने जो कहा है वह हमेशा ध्यानार्ह रहेगा । यथा - ''साहित्यकार की संवेदना को, मानवीय चेतना को, हमने अधिक विकसित या प्रसारित नहीं किया है ---- प्रेमचन्द को हम पीछे छोड़ आये, यह दावा सार्थक उसी दिन होगा जिस दिन उससे बड़ी मानवीय संवेदना हमारे बीच प्रकट हो । उसके बाद ही हम यह कह सकेंगे कि प्रेमचन्द का महत्व ऐतिहासिक महत्व है । तब तक वह हमारे बीच में हैं, पुराने पड़कर भी समर्थ है, साहित्य-संस्कार में गुरू स्थानीय है और उनसे हमें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए''।[२६]

बाबू गुलाबराय ने प्रेमचन्द के संदर्भ में लिखा है - ''चरित्र चित्रण और सोद्देश्य उपन्यास लिखने की दृष्टि से मुंशी प्रेमचन्दजी (सं. १९३७-१९९३) ने युगान्तर उपस्थित कर दिया। उनके उपन्यासों में सामाजिकता थी किन्तु बंगाली उपन्यासों का सा भावातिरेक न था और न वे बंगाली उपन्यासों की नकल कहे जा सकते हैं ।''[२७]

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास के द्वारा हिन्दी उपन्यास को एक गरिमा प्रदान की, यह तो एक सर्वविदित तथ्य है, किन्तु उनका महत्व इस रूप में भी है कि उन्होंने एक नये युग का प्रवर्तन किया। लेखकों की एक पूरी पीढी तैयार की। डॉ. रामविलास शर्मा इसीलिए प्रेमचन्द को एक युग निर्माता साहित्यकार कहते हैं। यदि हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो आधुनिक काल में प्रेमचन्द के अतिरिक्त दूसरे दो साहित्यकार हैं जिनके नाम से आधुनिक काल के किसी कालखण्ड को अभिहित किया गया है - बाबू भारतेन्दु हरिशचन्द्र तथा पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी। परन्तु भारतेन्दु अटूट संपत्ति के स्वामी थे और द्विवेदीजी के साथ एक संस्था की शक्ति जुडी हुई थी। प्रेमचन्दजी ने युग निर्माण का जो कार्य किया वह अकेले और संघर्षपूर्ण ढंग से किया। आधुनिक काल में कविता के क्षेत्र में जिसे छायावाद कहा जाता है, कथा साहित्य के क्षेत्र में उसे ही प्रेमचन्द युग कहा गया है। आर्थिक घाटा उठाते हुए भी प्रेमचन्दजी 'हंस' और 'जागरण' जैसी पत्रिकाओं को चलाते थे। इन पत्रिकाओं के द्वारा उन्होंने अनेक लेखकों को लिखने के लिए प्रेरित किया, जिनको हम प्रेमचन्द स्कूल के लेखक कह सकते हैं। इन लेखकों में विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री, भगवती प्रसाद वाजपेयी, ऋषभचरण जैन, जयशंकर प्रसाद, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह, वृंदावनलाल वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सियाराम शरण गुप्त, गोविन्द वल्लभ पंत, राजेश्वर प्रसाद, धनीराम प्रेम, प्रफुल्लचन्द्र ओझा, श्रीनाथसिंह, उषादेवी मित्रा, शिवरानी देवी, तेजोरानी दीक्षित, चन्द्रशेखर शास्त्री, जैनेन्दकुमार, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, आदि मुख्य हैं।[२८] इनमें से अंतिम तीन लेखकों का कृतित्व प्रेमचन्द युग में प्रारम्भिक दौर से गुजर रहा था। उनके कृतित्व का विकास और निखार तो प्रेमचन्दोत्तर युग में दृष्टिगत होता है, किन्तु यह ध्यातव्य रहे कि इनमें दो लेखक ऐसे हैं जिनके कृतित्व का सीधा सम्बन्ध हमारे आलोच्य विषय से है।

प्रेमचन्द स्वयं तो विश्व साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों से भलीभांति परिचित रहते ही थे परन्तु अपने समकालीनों को वे इसके लिए प्रेरित करते थे। २३ मार्च सन् १९१२ को उन्होंने उपेन्द्रनाथ अश्क को जो पत्र लिखा था इससे हमारे मत की पुष्टि हो रही है - ''पढ़ने के लिए लाइब्रेरी से मनोविज्ञान की कोई किताब ले लो, स्कूली कोर्स की किताब नहीं, अभी एक किताब निकली है, 'ध आस्पेक्ट्स ओफ नोवेल', वह इस विषय पर अच्छी पुस्तक है। मतलब सिर्फ यह कि इन्सान उदार विचारवाला हो, जाए उसकी संवेदनाएँ व्यापक हो जाए। डॉ. टैगोर के साहित्यिक और दार्शनिक निबंध बहुत ही अव्वल दर्जे के हैं। 'रोमारोलां' के 'विवेकानन्द' को जरूर पढो, उनकी 'गाँधी' भी पढने के लायक है। मारले के साहित्यिक निबंध लाजवाब हैं। डॉ. राधाकृष्णन की दर्शन सम्बन्धी किताबें, टोलस्टोय का 'वॉट इस आर्ट' वगैरह किताबें जरूर देखनी चाहिए।''[२९]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि प्रेमचन्द के अध्ययन की परिधि अत्यन्त विस्तृत थी। उन्होंने स्वयं डिफिन्स, विक्टर ह्युगो, तोलस्टोय, ज्योर्ज इलियट, अनातोले फ्रान्स, गार्ल्स वर्दी, थेकरे, हालकेन, रायडर हैगर्ड तथा एलेक्जाण्डर कुप्रिन जैसे विश्व विख्यात साहित्यकारों को पढ़ा था। जैनेन्द्रकुमार ने उचित ही लिखा है - ''मैं यह देखकर विस्मित हुआ कि आधुनिक साहित्य की प्रवृत्ति से वह कितने घनिष्ठ रूप में अवगत हैं। योरोपीय साहित्य में जानने योग्य उन्होंने जाना है, जानकर ही नहीं छोड़ दिया भीतर से पहचाना भी है और फिर विवेक से छानकर आत्मसात किया है।''[३०]

प्रेमचन्द युग के अन्य उपन्यासकारों में विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', पांण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', 'चतुरसेन शास्त्री', भगवतीप्रसाद बाजपेयी, ऋषभचरण जैन, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, राजा राधिका रमण प्रसादसिंह, जयशंकर प्रसाद,

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सियारामशरण गुप्त, वृंदावनलाल वर्मा, गोविन्द वल्लभ पंत, राजेश्वरप्रसाद, धनीराम 'प्रेम', प्रफु लचन्द्र ओजा, श्रीनाथसिंह, उषादेवी मित्रा, तेजोरानी दीक्षित, शिवरानी देवी, चंद्रशंकर शास्त्री, गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी तथा भगवतीचरण वर्मा आदि मुख्य है। इन लेखकों ने प्रेमचन्द की परंपरा का अनुसरण करते हुए तत्कालीन समाज की नाना समस्याओं को लेकर सामाजिक यथार्थ के विभिन्न आयामों को प्रस्तुत किया है। काव्य तथा नाटक में अतीत प्रेमी और भावुकतावादी जयशंकर प्रसाद भी 'कंकाल' जैसी घोर यथार्थ वादी रचना देते हैं। प्रेमचन्दजी ने इस उपन्यास को पढा तो फड़क उठे और मारे खुशी से उन्होंने लिखा - "यह प्रसादजी का पहला ही उपन्यास है, पर आज हिन्दी में बहुत कम ऐसे उपन्यास हैं, जिन्हें इसके सामने रखे जा सकते हैं।"[३१] इस समय प्रेमचन्द का जादू तत्कालीन लेखकों पर इतना छाया हुआ था कि आचार्य चतुरसेन शास्त्री तथा वृंदावनलाल वर्मा जैसे लेखक जो बाद में ऐतिहासिक उपन्यास की धारा में बह गए, उन्होंने भी इस दौर में कुछ अच्छे समस्यामूलक सामाजिक उपन्यासों का प्रणयन किया। वृंदावनलाल वर्मा ने प्रस्तुत काल खण्ड में 'लगन', 'संगम', 'कुण्डलीचक्र', 'प्रेम की भेंट' जैसे तो आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'अमर-अभिलाषा', 'व्यभिचार' जैसे सामाजिक उपन्यास दिए। बाद में ये दोनों लेखक ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में चले गए। जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी तथा भगवती चरण वर्मा आदि मुख्य हैं। इनमें से अंतिम तीन लेखकों का कृतित्व प्रेमचंद युग में प्रारंभिक दौर से गुजर रहा था। उनके कृतित्व का विकास और निर्वार तो हमें प्रेमचन्दोत्तर काल में ही उपलब्ध होता है। इनमें से प्रथम दो तो विशुद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार के रूप में जाने जाते हैं, केवल भगवतीचरण वर्मा ऐसे हैं जिनकी औपन्यासिक प्रवृत्ति सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक प्रभृति क्षेत्रों में विचरण करती रही है। जैनेन्द्र ने इस काल में 'परख' और 'सुनीता' जैसे बहुचर्चित उपन्यास दिए। भगवतीचरण वर्मा का

'चित्रलेखा' उपन्यास विशेष उल्लेखनीय कहा जा सकता है। ऐतिहासिक परिवेश की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत उपन्यास में उन्होंने 'पाप और पुण्य' की व्याख्या प्रस्तुत की है। कुछ आलोचकों का मानना है और स्वयं वर्माजी ने इसे स्वीकृत किया है कि उनकी इस कृति पर अनातोलेफ्र ान्स की औपन्यासिक रचना 'थाया' का प्रभाव है। इलाचन्द्र जोशी ने इस समय 'प्रेत और छाया' नामक मनोवैज्ञानिक उपन्यास दिया जो लघुताग्रंथि पर आधारित है।

इस प्रकार, हम देख सकते हैं कि प्रेमचन्द युग में हमें तीन प्रकार की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं - सामाजिक उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास तथा मनोवैज्ञानिक उपन्यास। परन्तु जैसा कि पहले निर्दिष्ट किया है प्रेमचन्दकाल में प्रधानता और प्रचतुरता तो सामाजिक उपन्यास की रही है अन्य दो औपन्यासिक प्रवृत्तियों का केवल सूत्रपात - भर हुआ है।

प्रेमचन्द काल के अन्य लेखकों की औपन्यासिक उपलब्धियों में 'माँ', 'भिखारिणी' (विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'); 'घंटा', 'चन्द हसीनों के खतूत', 'बुधवा की बेटी' (पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'); 'खवास का ब्याह' (चतुरसेन शास्त्री); प्रेमपथ, त्यागमयी, पतिता की साधना (भगवतीप्रसाद बाजपेयी); भाई, गदर, सत्याग्रह, 'तपोभूमि', 'मंदीरदीप' (ऋषभचरण जैन); 'इरावती', 'कंकाल' (जयशंकर प्रसाद); 'अप्सरा', 'अलका', 'निरूपमा' (सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला); 'गठकुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी' (वृंदावनलाल वर्मा); 'गोद', 'अंतिम आकांक्षा' (सियारामशरण 'गुप्त'); 'तरंग' (राजा राधिका रमण प्रसादसिंह); 'विदा' (प्रतापनारायण श्रीवास्तव); 'प्रतिमा', 'मदारी' (गोविन्द वल्लभ पंत); 'परख' (जैनेन्द्रकुमार); 'चित्रलेखा' (भगवतीचरण वर्मा); 'प्रेत और छाया' (इलाचन्द्र जोशी), 'नारीहृदय' (शिवरानी देवी); 'वचन का मोल' (उषादेवी मित्रा); 'हृदय का कांटा' (तेजोरानी दीक्षित); 'विधवा के पत्र' (चन्द्रशेखर शास्त्री); प्रभृति उपन्यासों को रेखांकित किया जा सकता है।

प्रेमचन्द युग के उपन्यासों के समग्रावलोकन के पश्चात निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्दजी के युगनिर्माता व्यक्तित्व ने हिन्दी उपन्यास को एक विशिष्ट गरिमा, ऊँचाई एवं इयत्ता प्रदान की थी। उसके पूर्व हिन्दी उपन्यास अपरिपक्व एवं दिशाहीन था। प्रेमचन्दजी ने मानवीय संवेदना का अवलम्ब लेकर उसमें प्राणप्रतिष्ठा की। मानवचरित्र को उसके समग्र रूप में रखने का सर्वप्रथम प्रयत्न उनके द्वारा हुआ। हिन्दी उपन्यास के साथ यह एक सुयोग रहा है कि प्रारम्भ से ही वह सामाजिक चेतना को लेकर चला है। बीच में कुछ समय के लिए बाबू देवकीनन्दन खत्री ओर गोपालराम गहमरी जैसे लेखकों के कारण सामाजिक चेतना की धारा से हटकर मनोरंजन प्रधान और रोमांसवादी हो गया था। किन्तु प्रेमचंदजी ने उसे पुन: सामाजिक चेतना से सम्बलित किया। इस प्रकार वे हिन्दी उपन्यास को रोमांस से यथार्थ की ओर, महल से झोंपड़े की ओर ले आए। प्रेमचंदजी के औपन्यासिक कृतित्व में हमें एक क्रमागत विकास दृष्टिगोचर होता है। वे क्रमश: आदर्शवाद एवं आदर्शोन्मुच यथार्थवाद से होते हुए संपूर्ण यथार्थवाद की ओर संक्रमित हुए हैं। वे सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि थे। अपने उपन्यासों के माध्यम से उन्होंने मानवजाति के - विशेषत: नारी, किसान एवं मजदूर - शोषण के खिलाफ आवाज बुलन्द की। उन्होंने न केवल युग की चेतना को संवारा, अपितु उसे गतिशील एवं समृद्ध किया। यह उनके युगव्यापी चेतना का प्रभावकारी परिणाम है कि बहुत से कवि एवं नाटककार भी इस युग में उपन्यास के चेत्र की ओर प्रवृत्त हुए। प्रेमचंदजी जहाँ सामाजिक यथार्थ की समग्रता को लेकर चलते हैं, वहाँ इस कालखण्ड में 'उग्र', ऋषभचरण जैन, चतुरसेन शास्त्री प्रभृति उपन्यासकार केवल आलोचनात्मक दृष्टिकोण को लेकर चले है, जिसके कारण उनके उपन्यासों में समाज के नग्न चित्रण की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। इस युग के अंतिम चरण में व्यक्तिवादी चेतना का सूत्रपात हो गया था। इस काल में उपन्यास न केवल गांभीर्य को प्राप्त करता है, अपितु इस काल के उपन्यासकारों में शिल्पगत सजगता के दर्शन भी होते हैं।

'उग्रजी', भंगवतीचरण वर्मा तथा जैनेन्द्रकुमार जैसे उपन्यासकार शिल्पवाद के नए क्षितिजों को तोड़ते हुए प्रतीत होते हैं। जो प्रेमचन्दोत्तरयुग में नई संभावना को प्रस्तुत करते हैं। इस कालखण्ड के औपन्यासिक विकास को लक्षित करते हुए डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है - ''विवेच्यकाल (प्रेमचंदकाल) को हिन्दी उपन्यास का स्थापनाकाल कह सकते हैं। जहाँ प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को प्रथम बार साहित्य का दर्जा प्रदान किया और जैनेन्द्र ने उसे 'आधुनिक' बनाया वहाँ प्रसाद, कौशिक, उग्र, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, निराला आदि ने भी अपने-अपने ढंग से उसे समृद्धि प्रदान कर परवर्ती उपन्यासों का मार्गदर्शन किया।''[३२]

१:०३:३ हिन्दी उपन्यास का विकास - प्रेमचंदोत्तर काल

यहाँ अत्यन्त संक्षेप में प्रेमचंदोत्तर काल की औपन्यासिक प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात करने का हमारा उपक्रम है। प्रेमचंदोत्तर काल में हमें निम्नलिखित औपन्यासिक प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं : (१) सामाजिक उपन्यास, (२) ऐतिहासिक उपन्यास, (३) मनोवैज्ञानिक उपन्यास, (४) समाजवादी उपन्यास, (५) आंचलिक उपन्यास, (६) राजनीतिक उपन्यास, (७) व्यंग्यात्मक उपन्यास, (८) पौराणिक उपन्यास, (९) साठोत्तरी उपन्यास और (१०) समकालीन उपन्यास।

(१) सामाजिक उपन्यास :

सामाजिक उपन्यास की परंपरा तो हमें उपन्यास के प्रारम्भिककाल से ही मिलती है। प्रेमचन्दोत्तरकाल के सामाजिक उपन्यासों में 'गिरती दीवारें' (उपेन्द्रनाथ 'अश्क'); 'लोहे के पंख' (हिमांशु श्रीवास्तव); 'बूंद और समुद्र', 'अमृत और 'विष' (अमृतलाल नागर); 'सामर्थ्य और सीमा', 'भूले बिसरे चित्र' (भगवतीचरण वर्मा); 'चढ़ती धूप' (रामेश्वर शुक्ल अंचल); 'छोटे छोटे पक्षी', 'आकाश

कितना अनंत है' (शैलेश मटियानी); 'नदी नहीं मुड़ती', 'एक और अहल्या' (भगवतीशरण मिश्र); 'बिल्लेसुर बकरीहां' (सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'); 'गुनाहों का देवता' (धर्मवीर भारती); 'गुजरा हुआ जमाना' (कृष्णबलदेव वैद्य); 'बडी चंपा छोटी चंपा' (लक्ष्मीनारायण लाल); 'यह पथबंधु था' (नरेश महेता); 'कालाजल' (शानी); 'कडियाँ' (भीष्म साहनी); 'एक टुकडा इतिहास' (गोपाल उपाध्याय); 'निशिकांत' (विष्णु प्रभाकर); आदि उपन्यासों को रेखांकित किया जा सकता है ।

(२) ऐतिहासिक उपन्यास :

ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास के वृत्तांत पर आधृत होता है । इसमें ऐतिहासिक तथ्यों के साथ खिलवाड़ करने की छूट नहीं मिल सकती । केवल काल्पनिक पात्रों की सृष्टि वह देशकाल को ध्यान में रखकर कर सकता है । कन्हैयालाल मुन्शी कृत 'गुजरात नो नाथ' में काक और शशि के चरित्र उसी प्रकार में आते हैं । वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'मृगनयनी' उपन्यास में लाखी और अटल के चरित्र कल्पना प्रसूत हैं । ऐतिहासिक उपन्यास में लेखक को देशकाल का सम्यक् ज्ञान रखना पड़ता है, अन्यथा देश विरुद्ध दूषण होने की पूरी-पूरी संभावना रहती है । अत: ऐतिहासिक उपन्यासों में औपन्यासिक सृजन के पूर्व लेखक को शोध और अनुसंधान की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है । अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार जोयस केरी उपन्यास की रचना-प्रक्रिया में रिसर्च को अत्यधिक महत्व देते हैं । यथा -

"Mr. Cary explained that he was now 'Plotting' the book. There was research yet to be done. Researsh, he explained, was some times a bore, but it was necessary for getting the political and social background of his work right"[३३] प्रेमचंदोत्तर काल में हमें

वृंदावनलाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, अमृतलाल नागर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. शिवसागर मिश्र, डॉ. भगवतीशरण मिश्र, यशपाल, रांगेय राघव इत्यादि ऐतिहासिक उपन्यासकार मिलते हैं। परन्तु इन सब लेखकों की 'इतिहास दृष्टि' में थोडा बहुत अंतर पाया जाता है । वृंदावनलाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, डॉ. शिवसागर मिश्र तथा डॉ. भगवतीशरण मिश्र प्रभृति लेखकों में इतिहास के पुनर्मूल्यांकन तथा इतिहासरस की सृष्टि की प्रवृत्ति पायी जाती है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा अमृतलाल नागर सांस्कृतिक जन-जीवन को अधिक महत्व देते हैं । यशपाल और रांगेय राघव अतीत को भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हैं । इस कालखण्ड के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों में 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'महादजी सिन्धिया', 'रानी अहल्याबाई', 'मृगनयनी' (वृंदावनलाल वर्मा); 'जय सोमनाथ', 'वैशाली की नगरवधू', 'सोना और खून' (आचार्य चतुरसेन शास्त्री); 'मानस का हंस', 'खंजन नयन' (अमृतलाल नागर); 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारु चंद्रलेख', 'पुनर्नवा' (आचार्य प्रसाद द्विवेदी); 'मगध की जय', 'अक्षत' (डॉ. शिवसागर मिश्र); 'पहला सूरज', 'गुरू गोविन्दसिंह', 'पीतांबरा' (डॉ. भगवतीशरण मिश्र); 'दिव्या', 'अमिता' (यशपाल); 'मुर्दों का टीला' (रांगेय राघव); आदि उपन्यासों की गणना सहजतया की जा सकती है ।[३४]

(३) मनोवैज्ञानिक उपन्यास :

हमारा शोध प्रबन्ध मनोवैज्ञानिक उपन्यासों से ही संबद्ध है । अत: उस पर सैद्धांतिक विवेचन यथास्थान किया जाएगा । यहाँ केवल औपन्यासिक विकास की दृष्टि से विचार करने का उपक्रम है । जहाँ सामाजिक या अन्य प्रकार के उपन्यासों में बाह्य, सामाजिक, राजनीतिक यथार्थ को उकेरा जाता है, वहाँ मनोवैज्ञानिक उपन्यास में आंतरिक, भीतरी या चैतसिक यथार्थ को केन्द्रस्थ करने

की प्रवृत्ति रहती है। यहाँ मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ, मनोवैज्ञानिक ग्रंथियाँ, मनोवैज्ञानिक कुण्ठाओं तथा इनके परिणाम स्वरूप घटित होने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं को निरूपित किया जाता है। मनुष्य का मन बड़ा जटिल और पेचीदा होता है, उसकी गहराई की थाह लेना अत्यंत दुष्कर कार्य है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार का सम्बन्ध इसी मानवमन और उसकी जटिलताओं और पेचीदगियों के साथ है। यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास का सूत्रपात प्रेमचन्द युग में ही हो गया था, परन्तु उसका विस्तार और पल्लवन प्रेमचंदोत्तर युग में संभव हुआ। फ्रायड, एडलर, युंग पावलोव, थोर्न डाईक, जिन पायागेट आदि मनोवैज्ञानिकों के आविष्कारों और सिद्धांतों का रचनात्मक धरातल पर उपयोग मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने किया है। इस समय के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में 'त्यागपत्र', 'व्यतीत', 'विवर्त', 'जयवर्धन', 'मुक्तिबोध' (जैनेन्द्रकुमार); 'जहाज का पंखी', 'परदे की रानी', 'संन्यासी' (इलाचन्द्र जोशी); 'अजय की डायरी', 'भीतर का घाव' (डॉ. देवराज); 'शेखर एक जीवनी', 'नदी के द्विप', 'अपने-अपने अजनबी' (अज्ञेय); 'दिगम्बरी' (सूर्यकुमार जोशी); 'मछली मरी हुई' (राजकमल चौधरी); 'आपका बण्टी' (मनु भंडारी); 'सूरजमुखी अंधेरे के' (कृष्णा सोबती); 'अठारह सूरज के पौधे', 'बैशाखियों वाली इमारत' (रमेश बक्षी); 'उसका बचपन' (कृष्ण बलदेव वैद); 'रेखा' (भगवतीचरण वर्मा); 'पचपन खंभे लाल दीवारें', 'रूकोगी नहीं राधिका' (उषा प्रियंवदा); 'चित्त कोबरा', 'उसके हिस्से की धूप' (मृदुलागर्ग); 'प्रिया', 'और कोहरे' (दीप्ति खंडेलवाल); 'छोटे-छोटे पक्षी', 'चंद औरतों का शहर', 'कोहबरा', 'बरफ गिर चुकने के बाद' (शैलेश मटियानी); 'सीढियाँ' (शशी प्रभा शास्त्री); 'टूटा हुआ इन्द्रधनुष' (मंजुल भगत); 'दिनांत' (शीला रोहेकर); 'महानगर की मीता' (मालती परुलकर); 'तत्सम्' (राजी शेठ); 'बेघर' (ममता कालिया); 'उसका घर' (महेरूनिशा परवेज़); आदि उपन्यासों को परिगणित किया जा सकता है।[३५]

(४) समाजवादी उपन्यास :

समाजवादी उपन्यास भी होते तो सामाजिक उपन्यास ही है, किन्तु इन उपन्यासो में हमें समाजवादी-मार्क्सवादी दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। इन उपन्यासो में हमें घटनाओं का निरूपण, घटनाओंका चयन तथा चरित्रांकन मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुरूप मिलते हैं । संक्षेप में मार्क्सवाद एक शोषण विरोधी विचारधारा है । हमारे यहाँ निम्नवर्ग, निम्नजातियाँ तथा स्त्रियों का शोषण सहस्त्राधिक वर्षो से धर्म और शास्त्र के नाम पर होता रहा है। मार्क्सवाद धर्म, नियती, भाग्यवाद, पुनर्जम्नवाद, पूंजीवाद, सामंतवाद आदि को नकारता है। मार्क्सवाद जीवन के तमाम स्तरों पर गेर बराबरी और विषमताको नकारता है। मार्क्सवादी जीवनमूल्यों के केन्द्रमें मनुष्य है। इस विचारधारामें श्रमजीवी वर्ग को विशेष मान्यता दी जाती है । हमारे समाजमें जो शोषणोन्मुखी व्यवस्था है मार्क्सवाद उसे हटाने की मुहीम को लेकर अग्रसरित होता है। हिन्दी में यशपाल, रांगेयराधव, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भैरवप्रसाद गुप्त, मन्मथनाथ गुप्त, आदि लेखकोकी गणना मार्क्सवादी लेखको में होती है और उनके प्रेमचन्दोत्तर काल के उपन्यासोमें 'झूठा सच', 'मेरी तेरी उसकी बात' (यशपाल); 'कब तक पुकारुँ' (रांगेय राघव); 'सिंह सेनापति' (राहुल सांकृत्यायन); 'सतीमैया का चौरा' (भैरवप्रसाद गुप्त); 'शहीद और सोहदे' (मन्मथनाथ गुप्त) आदि उपन्यास विशेष तथा ख्यात हुए हैं ।

(५) आंचलिक उपन्यास :

अंग्रजी में इसे 'Novels of Local Colours' कहा गया है। गुजराती में उपन्यास की इस विद्या के लिए 'जानपदी नवलकथा' जैसी संज्ञा प्रचलित हुई है। हिन्दी में सन् १९५४ में फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' के प्रकाशन के उपरांत 'आंचलिक उपन्यास' जैसा शब्द प्रयोग अस्तित्व में आया।

स्वयं रेणुजी ने ही 'मैला आंचल' को आंचलिक उपन्यास की संज्ञा दी थी। 'आंचलिक उपन्यास' में मूल शब्द 'आंचलिक' है, जो 'अंचल' से व्युत्पन्न हुआ है। अर्थात् किसी 'अंचल विशेष का उपन्यास'। अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'अंचल' तो प्रत्येक उपन्यास में रहता ही है, फिर 'मैला आँचल' में ही ऐसी क्या खासियत थी जो उसे 'आँचलिक' कहा गया ? इसका सीधा-सा उत्तर यह है कि आँचलिक उपन्यास में किसी अंचल-विशेष को उसकी समग्रता में प्रस्तुत किया जाता है। समग्रता से तात्पर्य यह है कि उस अँचल की छोटी से छोटी और सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को भी यहाँ रेखांकित करने का प्रयत्न होता है। वह 'अंचल', उसके गाँव के विभिन्न जाति के लोग, उनके रीति-रिवाज, उसकी बोली-ठोली, उनके विश्वास-अविश्वास, उनकी मान्यताएँ, खेत-खलिहान, नदी-निर्जर, लोकगीत, लोकनाट्य आदि तमाम चीजों को यहाँ मुख्यता दी जाती है। गुजराती के सुप्रसिद्ध कवि आलोचक उमाशंकर जोशी ने रेणु के 'मैला आँचल' की समालोचना करते हुए लिखा है कि इस एक उपन्यास में मेरीगंज गाँव के अलग-अलग टोले के लोगों की बोलियों के लगभग १५० टोन दिए गए हैं।[३६] एक प्रकार से आंचलिक उपन्यास का नायक वह अंचल-विशेष ही होता है। 'मैला-आँचल' का नायक और कोई नहीं, मेरी गंज गाँव ही है। इस प्रकार यह निर्दिष्ट हुआ कि आँचलिक उपन्यासों का सूत्रपात रेणुजी से हुआ। मैला आँचल के बाद रेणुजी ने 'परती परीकथा', 'जूलुस', 'दीर्घतपा' आदि आंचलिक उपन्यासों का सृजन किया। रेणुजी के उपन्यासों के उपरान्त 'सागर, लहरें और मनुष्य' (उदयशंकर भट्ट), 'जंगल के फूल' (राजेन्द्र अवस्थी), 'वरूण के बेटे' (नागार्जुन), 'नदी फिर वह चली' (हिमांशु श्रीवास्तव), 'अलग अलग वैतरणी' (डॉ. शिवप्रसाद सिंह), 'आधा गाँव' (डॉ. राही मासूम रजा) आदि आंचलिक उपन्यास पाये जाते हैं। हिन्दी के कई आलोचकों ने 'धरती धन न अपना' (जगदीशचन्द्र)तथा 'जल टूटता हुआ' (डॉ. रामदरश मिश्र) को भी आँचलिक उपन्यास माना है।[३७] परन्तु आंचलिक उपन्यासों के जो अभिलक्षण

निर्दिष्ट हुए हैं उनकी कसौटी पर यदि इन उपन्यासों को देखा-परखा जाय तो यह सहजतया ज्ञापित होगा कि इनमें आंचलिकता के वे गुण उपलब्ध नहीं होते हैं। यहाँ इस तथ्य को भी रेखांकित करना होगा कि किसी उपन्यास के आँचलिक होने न होने से उसकी महत्ता या इयत्ता में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। 'गोदान', 'रंगभूमि', 'नदी के द्वीप', 'वे दिन' आदि उपन्यास आँचलिक नहीं है तथापि उनकी गणना हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासों में होती रही है। 'मैला आँचल' के उपरांत हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों की जो भरमार चली उसके कारण 'रागदरबारी' के लेखक श्रीलाल शुक्ल को अपने उपन्यास की भूमिका में लिखना पड़ा कि यह एक अनाँचलिक उपन्यास है।

(६) राजनीतिक उपन्यास :

निकट अतीत की राजनीतिक घटनाओं पर आधारित उपन्यास को राजनीतिक उपन्यास की संज्ञा दी गई है। उसमें राजनीतिक वाद-विवादों, राजनीतिक विचार धाराओं, राजनीतिक पार्टियों तथा राजनीतिक व्यक्तियों का चित्रण केन्द्र में पाया जाता है। 'प्रेमाश्रम' को कई आलोचकों ने हिन्दी का प्रथम राजनीतिक उपन्यास माना है। प्रेमचन्दोत्तर काल के राजनीतिक उपन्यासों में 'भूले बिसरे चित्र', 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', 'प्रश्न और मरीचिका', 'सबही नचावत राम गोसाई' (भगवतीचरण वर्मा), 'प्रेम एक अपवित्र नदी' (लक्ष्मीनारायणलाल), 'एक पंखुडी की तेज धार' (समशेरसिंह नरूला), 'मैला आँचल', 'जुलूस' (फ णीश्वरनाथ रेणु) 'काली आंधी' (कमलेश्वर), 'तेरी मेरी उसकी बात' (यशपाल), 'सीधा सादा रास्ता' (रांगेय राघव) आदि उपन्यासों को हम राजनीतिक उपन्यास कह सकते हैं। भगवतीचरण वर्माजी के उपन्यासों में हमें स्वाधीनता पूर्व तथा स्वाधीनता बाद के निकट अतीत की राजनीतिक कड़ियाँ उपलब्ध होती हैं। लाल के उपन्यास में स्वाधीनता के उपरान्त हमारी राजनीति में कैसे-कैसे भ्रष्टाचारी लोग

आये उसका यथार्थ चित्रण मिलता है । नरूलाजी के उपन्यास में गाँधीजी की हत्या किन राजनीतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में हुई उसका स्पष्ट एवं सटीक चित्रण हुआ है । 'काली आँधी' में हमें इन्दिरा गाँधी के चरित्र का संकेत मिलता है । 'मैला आँचल' में स्वतंत्रता के बाद सत्ता के सूत्र किस प्रकार के लोगों के हाथों में गया है उसका यथार्थ निदर्शन उपलब्ध होता है । 'जुलूस' में बंगला देश के समय के इतिहास को लिया गया है । यशपाल कृत 'तेरी मेरी उसकी बात' में स्वतंत्रता पूर्व तथा स्वतंत्रता के बाद के कोंग्रेस के राजनीतिक स्खलनों को लेखक के बखूबी रेखांकित किया है । इन उपन्यासों के माध्यम से हम अपने निकट अतीत के अथवा सांप्रतिक इतिहास को जान सकते हैं । भविष्य में इस प्रकार के उपन्यास ऐतिहासिक अनुसंधान के स्रोत हो सकते हैं ।

(७) व्यंग्यात्मक उपन्यास :

'व्यंग्य' शब्द 'वि + अंग' से व्युत्पन्न हुआ है । अर्थात् जब कोई विषय या वस्तु या चरित्र अपने मूल स्थान से विच्युत हो जाता है, तब वह व्यंग्य का विषय होता है। विषमता, विसंगति, विकृतता, विद्रूपता आदि के कारण व्यंग्य का जन्म होता है । आचार और विचार, कथनी और करनी का अंतर व्यंग्य स्थितियों की सृष्टि करता है । आज़ादी के बाद हमारे देश में समाज, राजनीति, धर्म, शिक्षा आदि अनेक क्षेत्रों में विसंगतियाँ और विकृतियाँ पायी जाती है, फलतः इधर के साहित्य में हमें व्यंग्यात्मक तेवरों का प्राधान्य मिलता है । व्यंग्य निबंध, व्यंग्य कविता, व्यंग्य कहानी, व्यंग्य नाटक आदि की भाँति इधर हमें व्यंग्यात्मक उपन्यास भी पर्याप्त संख्या में उपलब्ध होते हैं । बहुत-से लोग हास्य और व्यंग्य को एक ही श्रेणी में वर्गबद्ध करते हैं । परन्तु दोनों में पर्याप्त अंतर है । हास्य का स्थायी भाव 'हास्' है जबकि व्यंग्य का स्थायीभाव 'जुगुप्सा' हो सकता है । हास्य गुदगुदाता है, जबकि व्यंग्य चोट करता है । बल्कि चोट करना

ही एक मात्र उसका उद्देश्य होता है । हास्य 'कोमेडी' के निकट है, व्यंग्य 'सेटायर' के निकट है । 'सेटायर' शब्द की व्युत्पत्ति ही 'सर्टरस' ना म के एक विचित्र जंतु के आधार पर हुई है। प्रसिद्ध आंग्ल विवेचक 'मेरीडिथ मह ोदय' ने हास्य और व्यंग्य के अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा है - "If you detect the ridicule and your kindliness _____ is chilled by it you are slipping into the grasp of satire."[३८] अर्थात् यदि हम किसी हास्य के आलंबन का इतना मजाक उड़ाते हैं कि उसके प्रति हमारी दयालुता समाप्त हो जाय तो ऐसी स्थिति में हास्य व्यंग्य की कोटि में सरक जाता है । श्रीलाल शुक्ल द्वारा प्रणीत 'रागदरबारी' उपन्यास को हम व्यंगयात्मक उपन्यासों के एक प्रतिमान के रूप में देख सकते हैं । चार सो चौबीस पृष्ठों का यह वृह्द उपन्यास पहले वाक्य से लेकर अंतिम वाक्य तक व्यंग्य-वक्रता से सराबोर है । व्यंग्य तो उपन्यास में प्रारंभ से मिलता है किन्तु किसी उपन्यास को 'व्यंग्य उपन्यास' तब कहा जाएगा जब उसमें व्यंग्य आद्यन्त रूप में मिलता हो । 'रागदरबारी' के उपरान्त हिमांशु श्रीवास्तव कृत 'कथा सूर्य की नई यात्रा', श्रवण कुमार गोस्वामी 'कृत जंगल तंत्रम्', मनोहरश्याम जोशी कृत 'कुरु कुरु स्वाहा', तथा 'नेताजी कहिन', 'एक चूहे की मौत' (बदी उज्जमां), 'दिल एक सादा कागज' तथा 'टोपी शुक्ला' (डॉ. राही मासूम रजा) आदि उपन्यासों को व्यंग्यात्मक उपन्यासों की कोटि में रखा जा सकता है ।

(८) पौराणिक उपन्यास :

हमारा लगभग दो हजार - ढाई हजार वर्षों का इतिहास हमें ज्ञात है, क्योंकि इतिहास लेखन की हमारी परंपरा नहीं रही । इसके पूर्व हमें इतिहास की सिलसिलेवार और ब्यौरेवार घटनाएँ उपलब्ध नहीं होती है । इस अज्ञातकाल को पुराणकाल कहा गया है और इन पुराणों के वृत्तांतों को लेकर जिन उपन्यासों

की रचना हुई है उनको पौराणिक उपन्यास की संज्ञा दी गई है । संक्षप में ऐतिहासिक उपन्यास इंतिहास पर आधारित होते हैं, तो पौराणिक उपन्यास रामायण, महाभारत, श्रीमद् भागवद्, शिवपुराण, विष्णुपुराण आदि पुराणों में वर्णित घटनाओं पर आधारित होते हैं । अत: यह तो जाहिर है कि उनमें अजीबोगरीब, काल्पनिक, वायवी और फंटासी से भरपूर घटनाओं की भरमार रहती है । पौराणिक उपन्यास लेखन में भी हमें दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं । एक प्रवृत्ति के अनुसार पौराणिक घटनाओं को आधुनिक, तर्क संगत, वैज्ञानिक अर्थघटन के साथ प्रस्तुत किया जाता है, जैसे, डॉ. नरेन्द्र कोहली ने किया है । डॉ. नरेन्द्र कोहली ने रामायण और महाभारत को लेकर दो उपन्यास मालाओं का सृजन किया है । इन उपन्यासों में उन्होंने यथासंभव पौराणिक कथा को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयास किया है । उदाहरणतया अहल्या की घटना को उन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि गौतम ऋषि एक विद्यापीठ के कुलपति है । उनके प्रदेश का शासक इन्द्र एक संगोष्ठी में निमंत्रित है । इन्द्र अहल्या के सौंदर्य से मुग्ध हो जाता है और रात्रि के अंधकार में गौतम ऋषि का वेश धारण करके अहल्या के साथ सहशयन का सुख भोगता है । जब गौतम ऋषि को यह बात ज्ञात होती है तब वे कुपित होकर अन्यत्र चले जाते हैं । विद्यापीठ उजड़ जाती है । सभी लोग स्थानांतरित हो जाते हैं, रह जाती है केवल अहल्या । इन्द्र द्वारा बलात्कृत तथा पति और समाज द्वारा तिरस्कृत अहल्या इस भयंकर आघात के कारण जड़ीभूत हो जाती है, संज्ञा शून्य हो जाती है । प्रतीकात्मक अर्थों में पत्थर हो जाती है । अनेक वर्षों के उपरान्त जब राम और लक्ष्मण से अहल्या की भेंट होती है, तब उनके संवेदनापूर्ण व्यवहार के कारण अहल्या की संज्ञा लौट आती है । यह तो मात्र एक प्रसंग है ऐसे अनेको प्रसंगों को उन्होंने आधुनिक अर्थघटन के साथ प्रस्तुत किया है ।[३९] दूसरा दृष्टिकोण डॉ. भगवतीशरण मिश्रजी का है जिन्होंने पौराणिक उपन्यासों के आलेखन में चमत्कार पूर्ण घटनाओं को यथावत् रखा है जैसे, उनके 'पवनपुत्र' उपन्यास में

हनुमानजी द्वारा सूर्य को निगलनेवाली घटना उसी रूप में वर्णित हुई है । डॉ. नरेन्द्र कोहली के उपन्यासों के उपरान्त भगवतीशरण मिश्र कृत 'प्रथम पुरुष', 'पुरुषोत्तम'; आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रणित 'अनामदास का पोथा' आदि उपन्यास मिलते हैं जिनको हम पौराणिक उपन्यास की संज्ञा दे सकते हैं। अन्य औपन्यासिक प्रवृत्तियों की तुलना में पौराणिक उपन्यासों का लेखन अपेक्षाकृत कम हुआ है । इसका कारण कदाचित यह हो सकता है कि उपन्यास की यथार्थवादी प्रवृत्ति पौराणिक वृत्तांतों के अधिक अनुकूल नहीं है ।

(९) प्रयोगवादी उपन्यास :

जहाँ पर उपन्यास के कथा-शिल्प में कोई नवीन प्रयोग किया जाता है, वहाँ उसे प्रयोगवादी उपन्यास की श्रेणी में रखने का उपक्रम रहता है । प्रेमचन्दोत्तर काल में धर्मवीर भारती कृत 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना कृत 'सोया हुआ जल', डॉ. देवराज कृत 'अजय की डायरी', जैनेन्द्र कुमार कृत 'जयवर्धन', भारत भूषण अग्रवाल कृत 'लौटती लहरों की बाँसुरी', बदी उज्जमां कृत 'एक चूहे की मौत', श्रवण कुमार गोस्वामी कृत 'प्रेत', सरयूप्रसाद पांडे कृत 'मिस्टर तिवारी का फोन', गिरिराज किशोर कृत 'यात्राएँ', हिमांशु श्रीवास्तव कृत 'कथा सूर्य की नई यात्रा', हरिशंकर परसाई कृत 'रानी नागफ नी की कहानी', हृदयेश कृत 'एक कहानी अंतहीन' आदि उपन्यासों को हम प्रयोगधर्मी या प्रयोगवादी उपन्यास की श्रेणी में रख सकते हैं ।

(१०) साठोत्तरी उपन्यास :

साठोत्तरी उपन्यास में 'साठ' के बाद के उपन्यासों को लिया जाता है । परन्तु साठ के बाद के सभी उपन्यासों को साठोत्तरी नहीं कहा जाएगा । केवल उन उपन्यासों को साठोत्तरी उपन्यासों की संज्ञा प्राप्त होगी, जिनमें साठोत्तरी

चेतना और साठोत्तरी मानसिकता का चित्रण मिलता है । १९४७ में हमारा देश आज़ाद हुआ । देश की स्वतंत्रता को लेकर भारत के लोगो में बहुत सी आशाएँ थी, परन्तु स्वाधीनता के उपरान्त देखा गया कि देश की सामान्य स्थिति में कोई खास बदलाव नहीं आया, बल्कि जीवन के सभी क्षेत्रों में मूल्यगत अवमूल्यन तथा भ्रष्टाचार का परिमाण पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक बढ गया । फलतः लेखक, कवि, चिंतक, कलाकार वर्ग में 'मोहभंग' की स्थिति का निर्माण हुआ । साठोत्तरी उपन्यास इस मोहभंग की मुद्रा को उकेरता है । मोहभंग के उपरान्त कलागत निरपेक्षता, प्रयोगशीलता, आधुनिक भावबोध, शिल्पगत सजगता, प्रतीकात्मकता, संकेतात्मकता जैसे अभिलक्षण भी साठोत्तरी उपन्यासों में दृष्टिगत होते हैं । 'तेरी मेरी उसकी बात' (यशपाल), 'रेखा' (भगवतीचरण वर्मा), 'धरती धन न अपना' (जगदीशचन्द्र), 'इमरतिया', 'उग्रतारा' (नागार्जुन), 'जुलूस' (रेणु), 'अमृत और विष', 'बूंद और समुद्र' (अमृतलाल नागर), 'अलग अलग वैतरणी' (डॉ. शिवप्रसादसिंह), 'जल टूटता हुआ', 'सूखता हुआ तालाब' (डॉ. रामदरश मिश्र), 'आधागाँव' (डॉ. राही मासूम रजा), 'कालाजल', 'साँप और सीढी' (गुलशेरखान शानी), 'मुर्दाघर' (जगदम्बा प्रसाद दीक्षित), 'अंधेरे बन्द कमरे' (मोहन राकेश), 'वे दिन' (निर्मल वर्मा), 'मछली मरी हुई' (राजकमल चौधरी), 'सूरज मुखी अंधेरे के' (कृष्णा सोबती), 'अठारह सूरज के पौधे' (रमेश बक्षी), 'आपका बंटी' (मनु भण्डारी) प्रभृति उपन्यासों को साठोत्तरी उपन्यासों की कोटि में रखा जा सकता है ।[४०]

(११) समकालीन हिन्दी उपन्यास :

समकालीन शब्द अंग्रेजी के 'Contemporary' का पर्यायवाची शब्द है । मोटे तौर पर पिछले पंद्रह-बीस वर्षों के उपन्यासों को समकालीन उपन्यास कहा जा सकता है, परन्तु यहाँ भी इस तथ्य का ध्यान रखना होगा कि केवल

उन उपन्यासों को समकालीन उपन्यास कहा जाएगा, जिनमें समकालीन भारतीय जीवन की चिंता एवं मानसिकता का आलेखन होगा। 'प्रिया', 'कोहरे' (दीप्ति खण्डेलवाल), 'उसके हिस्से की धूप', 'चित्तकोबरा' (मृदुला गर्ग), 'बेघर' (ममता कालिया), 'उसका घर', 'आँखों की दहेलीज़' (महरून्निसा परवेज़), 'टपरेवाले', 'एक औरत की जिन्दगी' (कृष्णा अग्निहोत्री), 'शेषयात्रा' (उषा प्रियंवदा), 'अपने लोग', 'बिना दरवाजे का मकान' (डॉ. रामदरश मिश्र), 'सीढियाँ' (शशिप्रभा शास्त्री), 'तत्सम' (राजी शेठ), 'पतझड़ के मौसम' (निरूपमा सेवती), 'रेत की मछली' (कांता भारती), 'अनारो' (मंजुल भगत) 'मेरे संधि पत्र' (सूर्यबाला सिंह), 'पाषाण युग' (मालती जोशी), 'बसन्ती', 'मैयादास की मांडी' (भीष्म साहनी), 'नरक कुण्ड में बास' (जगदीशचन्द्र), 'छिन्नमस्ता' (प्रभा खेतान) 'इदन्नमम' (मैत्रेयी पुष्पा), 'मुझे चांद चाहिए' (सुरेन्द्र वर्मा), 'उकाव' (क्षीतिज शर्मा), 'डूब' (वीरेन्द्र जैन), 'अपने अपने राम' (डॉ. भगवान सिंह), 'रात का रिपोर्टर' (निर्मल वर्मा), 'बूढ़ा बरगद' (असगर वजाहत), 'नौकर की कमीज' (विनोद कुमार शुक्ला), 'खिलेगा तो देखेंगे' (विनोद कुमार शुक्ला), 'कु रु कुरु स्वाहा', 'हरिया हरक्युलस की साइकल' (मनोहर श्याम जोशी), 'बिमल उर्फ जाएं तो जाएं कहाँ' (कृष्ण बलदेव वैद) आदि उपन्यासों को हम समकालीन उपन्यास की संज्ञा दे सकते हैं।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि हिन्दी उपन्यास में विगत सौ-सवा सौ वर्षों में वस्तु एवं शिल्प उभयदृष्टि से पर्याप्त विकास हुआ है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में कथा साहित्य का विशेष योगदान रहा है। अन्य विधाओं की तुलना में यहाँ संख्या एवं गुणात्मकता दोनों दृष्टियों से सम्पन्नता के दर्शन होते हैं। कथाकारों ने अपने समय की नब्ज को पहचाना है और समय पटल में जीवन मूल्यों के चढते उतरते ग्राफ को कुशलता से अंकित किया है।

१:०४:१ मनोवैज्ञानिक उपन्यास

हमारे शोध प्रबन्ध का विषय मनोवैज्ञानिक उपन्यासों से सम्बद्ध है। अत: यहाँ मनोवैज्ञानिक उपन्यास पर विचार कर लेना युक्तिसंगत ही कहा जाएगा। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है, और मनोविज्ञान मन का विज्ञान है। अंग्रेजी में उसे 'Psychology' कहते हैं। यह शब्द युनानी भाषा के 'Psyche' और 'logus' के योग से बना है। 'Psyche' का अर्थ है आत्मा और 'Logus' का अर्थ है विचार-विमर्श। अत: 'Psychology' वह विज्ञान है जिसमें मनुष्य की आत्मा अथवा मन पर विचार किया जाता है। पिछली दो तीन शताब्दियों में इस विज्ञान का यथोचित विकास हुआ है और उसमें शोध और अनुसंधान की प्रक्रिया के द्वारा अनेकानेक सिद्धान्तों का अन्वेषण हुआ है। मनोविज्ञान के इन सिद्धान्तों पर जो उपन्यास आधारित होते हैं उनको मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहा जाता है। वैसे थोड़ा बहुत मनोविज्ञान तो सभी प्रकार के उपन्यासों में उपलब्ध रहता है, परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के तो केन्द्र में ही मनोवैज्ञानिक सिद्धांत रहते हैं। सरल शब्दों में कहे तो जिस प्रकार ऐतिहासिक या पौराणिक उपन्यास इतिहास या पुराण पर आधृत होते हैं, ठीक उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक उपन्यास मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर आधृत रहता है। यदि हम हिन्दी उपन्यास के विकासक्रम को दृष्टि में रखें तो हम इस सत्य को आत्मसात कर सकते हैं कि हिन्दी उपन्यास का विकास घटना से चरित्र, चरित्र से व्यक्ति और व्यक्ति से मन की तरफ होता गया है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास में अचेतन मन की अछूती, अनचिन्ही गहराइयों एवं जटिलताओं की परतों को उधेड़ने का कलात्मक उपक्रम रहता है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उपन्यास के अन्य प्रकारों में पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण नहीं होता। मनोवैज्ञानिक चित्रण के अभाव में तो कोई भी उपन्यास अच्छा या स्तरीय उपन्यास हो ही नहीं सकता। यहाँ अभिप्राय यह है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासों

में उपन्यासकार का मुख्य प्रतिपाद्य ही मनोवैज्ञानिक वस्तु, पात्र, मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ एवं मनोवैज्ञानिक क्षणों का निरूपण है। जिन बाह्य घटनाओं, सामाजिक समस्याओं एवं संघर्षों का चित्रण सामाजिक उपन्यासकार अत्यन्त विस्तार के साथ करता है, हो सकता है मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार उन्हें छोड़ दें या अत्यन्त संक्षेप में उनका वर्णन कर दें। जैनेन्द्रकुमार ने 'परख' उपन्यास में सत्यधन और गरिमा, उभय की माताओं के निधन की घटना दो तीन वाक्यों में कह डाली है, दूसरी ओर सत्यधन, गरिमा और कट्टो के मन में चलनेवाले अंतर्द्वन्द्व एवं उहापोहों का चित्रण कई-कई पृष्ठों में किया है।[४१] जैनेन्द्रजी के ही 'त्यागपत्र' उपन्यास में मृणाल के विवाह का केवल उल्लेखभर किया गया है। यह प्रसंग यदि सामाजिक उपन्यास में होता तो शादी-ब्याह की तैयारियाँ तथा रीति-रिवाजों को लेकर ही कई पृष्ठ लिखे जाते। उसमें सर्वाधिक स्थान मृणाल तथा प्रमोद के आत्ममंथन और चिंतन को दिया गया है। 'परख' उपन्यास में कश्मीर यात्रा का प्रसंग आता है। कोई दूसरा उपन्यासकार होता तो कश्मीर की हसीन-रंगीन वादियों का, उसकी झीलों, सरोवरों और घाटियों का ब्यौरेवार वर्णन करता; परन्तु जैनेन्द्रजी ने ऐसा कुछ नहीं किया है। वे तो कट्टो की शरारतें, उसकी अठखेलियाँ तथा मान-मनौबल पर कई-कई पृष्ठ लिखते चले जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे उपन्यासों में बाह्य-स्थूल सामाजिक घटनाओं की अपेक्षा आंतरिक, सूक्ष्म मानसिक घटनाओं, मानसिक संघर्षों एवं उसके उथल-पुथल को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। जिस प्रकार व्यंग्यात्मक उपन्यासों में व्यंग्यात्मक क्षणों और प्रसंगों को पकड़ने की चेष्टा की जाती है, ठीक उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक क्षणों 'Psychologycal moments' को उकेरने की ओर लेखक अधिक प्रवृत्त रहता है। डॉ. देवराज उपाध्याय इस संदर्भ में लिखते हैं "यदि किसी उपन्यास में घटना या अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप को अभिव्यक्ति पर आग्रह पाएंगे तो उसे मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहेंगे।"[४२] इस प्रकार मनोवैज्ञानिक उपन्यास में लेखक की रचनात्मक

यात्रा स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर संक्रमित होती है ।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास में प्रधान पात्र की जीवनगति या मनोगति कथा का रूप नियत करती है । चरित्र की अंतर्यात्रा कथा को स्वरूप देती है, कथा की गति चरित्र को नहीं । कथा यात्रा के भीतर से विकसित होकर चरित्र कथा बन गई है, दूसरे शब्दों में कहें तो मनोवैज्ञानिक उपन्यास ने जीवन के विशाल धरातल को छोड़कर मानस के संकीर्ण धरातल को ग्रहण किया है । अतएव ऐसे उपन्यासों में प्रेमचन्दयुग के बहिर्लोग की स्थूल घटनाएँ अंतर्लोक की सूक्ष्म घटनाओं में बदल जाती हैं । उसका स्वरूप बाह्य और सामाजिक न होकर मानसिक हो जाता है । बहिर्यात्रा का स्वरूप निश्चित होता है, या निश्चित हो सकता है परन्तु अंतर्यात्रा में कथागत रूपरेखा क्रमानुसार विकसित नहीं होती । वह विगत वर्तमान या भावी में कहीं भी संक्रमित हो सकती है, इसलिए कथा की गति यहाँ विशृंखलित होती है । यहाँ पर आदि, मध्य और अंत का कोई निश्चित क्रम भी नहीं रहता । जीवन के प्रसंग विछिन्न एवं विपर्यस्त होकर कथा में कहीं भी स्थान पा सकते हैं । जैसे 'शेखर एक जीवनी' 'नदी के द्वीप' या 'गिरती दीवारें', 'सुनीता' जैसे उपन्यासों में हम देख सकते हैं । इस प्रकार मनोवैज्ञानिक उपन्चासों में कथा का अनुबंधन सामाजिक उपन्यासों जैसा नहीं होता । यहाँ पात्र और घटनाएँ एक निश्चित क्रम में 'A to Z' नहीं चलते अपितु वे पीछे से आगे की ओर भी बढ़ सकते हैं । अतएव कई बार यहाँ कथा का अधोमुखी प्रवाह दृष्टिगत होता है । कथा कभी पूर्वदिप्ती या स्मृतियों के अनुबंध से आगे बढती है । पूर्वदीप्ति (Flash back) के कारण ऐसे उपन्यासो में मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता के साथ-साथ नाटकीय वर्तमानता भी सिद्ध होती है । लियोन एडेल महोदय मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के संदर्भ में कहते हैं - 'In the mind past and present merge; we suddenly hold up a memory of childhood that is chronologically of the distant past but in it memory becomes instantly

vivid and is relived for the moment that is recalled----the novelist is catching and recording the present moments - and no other"[४३]

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कथा की शृंखला कुछ अन्य शिल्प कौशलों के कारण विछिन्न हुई है । पर्दे की रानी (इलाचन्द्र जोशी), नदी के द्वीप (अज्ञेय), काले फू ल का पौधा (लक्ष्मीनारायस लाल) आदि उपन्यासों में विभिन्न पात्रों के दृष्टिकोण से कथा का व्यक्तिकरण हुआ है । हेनरी जेम्स ने कथा के उद्घाटन की इस विधि को 'Point of a view method' कहा है । इसके लिए उपन्यासों को एक दूसरे के पूरक ऐसे लघुखंडों में विभक्त किया जाता है । विभिन्न मुख्य पात्रों के आत्मकथनों या उनके दृष्टिकोण से कथा-कथन के लिए पृथक्-पृथक् अनेक खंड नियत किए जाते हैं । या सभी प्रधान पात्र कम से कम एक बार एक खण्ड में अपनी कथा कहते हैं । कथा का यह श्रमसाध्य विधान, चरित्र-चित्रण के लिए भी उपयोगी होता है; क्योंकि इसमें एक पात्र दूसरे पात्र के दृष्टिकोण को प्रकाशित करता है । ऐसे उपन्यासों में कथा को एकसूत्रित या संयोजित करने का कार्य लेखक का नहीं, अपितु गृहणशील प्रबुद्ध पाठकों का भी हो जाता है । अत: यह आवश्यक समझा जाता हे कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का पाठक कुछ अधिक प्रबुद्ध और संन्नध हो । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कई बार लेखक तटस्थ हो जाता है । फ लत: उसकी शिल्प विधि अधिक नाटकीय हो जाती है । लियोन एडेल इस संदर्भ में कहते है - 'It is the method of the drama, the unravelling of an exposition as we get it on the stage, but with much greater subtelty which a novel permits'[४४] इस नाटकीय विधि के कारण पाठकों और पात्रों में एक विशेष प्रकार का तादात्म्य स्थापित होता है । वास्तविक जीवन में हम स्वयं को दूसरों के दृष्टिकोण से नहीं समझते । अन्य प्रकार के उपन्यासों में लेखक सर्वज्ञ की तरह उनके जीवन के ब्यौरों को प्रस्तुत करता चलता है, जबकि मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में लेखक

पात्रों का परिचय नाटकीय और स्वाभाविक ढंग से करता है । पाठक शनैः शनैः पात्रों से परिचित होता है । कई बार उनके विश्लेषण के द्वारा पात्रों को समझने का प्रयास करता है । मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पात्रों को समझने के लिए या उनकी गतिविधि को पकड़ने के लिए पाठक को भी एक विशेष प्रकार की तैयारी रखनी पड़ती है ।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहने का तात्पर्य उन उपन्यासों से हैं जो मूलतः मनोविश्लेषण पर आधारित है । जहाँ तक मनोविज्ञान का संबंध है, और मनोवैज्ञानिक ज्ञान का संबंध है, वह कोई नई वस्तु नहीं है । व्यास वाल्मिकी से लेकर आधुनिक युग के सभी कवियों और साहित्यकारों में उसे लक्षित किया जा सकता है । परन्तु मनोविश्लेषणवाद अपने सीमित अर्थ में एक आधुनिक चीज है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में इस मनोविश्लेषणवाद को ग्रहण किया जाता है । मनोविश्लेषणवाद मस्तिष्क के चेतन, उपचेतन और अवचेतन यों तीन विभाग करता है । और उसमें सबसे अधिक महत्व अवचेतन को दिया जाता है । वस्तुतः यह अवचेतन मस्तिष्क ही हमारे व्यक्तित्व, उसके सारे कार्य व्यापारों, नैतिक आचारों और व्यवहारों का निर्माता और नियंता है । चेतनता हमारे मस्तिष्क का बहुत छोटा भाग है । उसके द्वारा हम केवल सामाजिक संबंधों का बोध प्राप्त करते है । मनोवैज्ञानिक इस बात को स्पष्ट करने के लिए मनुष्य के मन को हीमशैल की उपमा देते हैं । हीमशैल में एक छोटा-सा अंश बाहर लक्षित होता है, उससे कई गुना ज्यादा बड़ा अंश पानी में छिपा रहता है । बाहर दृष्टिगोचर होने वाला अंश मानो चेतन मस्तिष्क है और अंदर छिपा रहनेवाला अंश मानो अवचेतन मन है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में इसी अवचेतन मन के क्रियाकलापों को पकड़ने की और समझने की चेष्टा की जाती है ।

व्यवहारतः बहुत सी घटनाओं को अप्रत्याशित या आकस्मिक समझा जाता है, लेकिन मनोवैज्ञानिक किसी घटना को आकस्मिक नहीं मानते । वे

उसका कारण अवचेतन में स्थित Libido को मानते है । मनोवैज्ञानिकों का अभिमत है कि जन्म से लेकर मनुष्य की सांप्रतिक स्थिति तक जो कुछ भी घटता है वह Libido में संग्रहीत होता है । बहुत-सी बातों और घटनाओं को मनुष्य का चेतन मन विस्मृत कर जाता है, किन्तु अवचेतन मन में स्थित Libido उन्हें भूलता नहीं है । Libido में स्थित मानव अनुभव समय-समय पर प्रस्फुटित होते रहते हैं । जिसे हम बाह्यत: आकस्मिक समझते हैं । वह यथार्थत: आकस्मिक नहीं होता । उसके पीछे कोई न कोई कारण होता है जिसका उत्स हमें Libido में मिलता है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार अवचेतन मन और Libido की इन गुथ्थियों और जटिलताओं को मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर समझाने की चेष्टा करता है ।

पिछली दो शताब्दियों में विज्ञान के क्षेत्र में ही नहीं मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी अनेक आविष्कार हुए हैं । अनेक नये तथ्य उद्घाटित हुए हैं । मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार मनोविज्ञान से सम्बद्ध खोजों और आविष्कारों से लाभ उठाता है । फ्रायड, एडलर, ह्युंग, पावलोव, थोर्नडाइक तथा जिन पायागेट जैसे मनोवैज्ञानिकोंने अवचेतन मन की गुत्थियों को समझने के लिए अनेक प्रकार के प्रयोग मनुष्यों तथा पशु-प्राणियों पर किये हैं और उनके अथक प्रयासों के कारण बहुत से मनोवैज्ञानिक सिद्धांत सामने आये है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार उनके ज्ञान का उपयोग रचनात्मक धरातल पर करता है ।

मानव मन को समझने के लिए मनोविश्लेषण की प्रक्रिया से गुजरना पडता है । मनोवैज्ञानिकों ने उसकी प्रमुख तीन विधियाँ निर्देशित की है - (१) अंत: प्रेक्षण विधि (Introspection), (२) बाह्य निरीक्षण विधि (Observation) और (३) प्रयोग विधि । (Experimental Method)[४५] मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का लेखक इन विधियों का प्रयोग अपनी सृजनशीलता में करता है ।

मनोविश्लेषणात्मक विधि को समझने के लिए फ्रायड निम्नलिखित चार शब्दों का प्रयोग करते हैं - (१) अवचेतन मस्तिष्क (Unconcioeus Mind), (२) लिबिडो (Libido), (३) दमन (Repression) और (४) इडीपस ग्रंथि (Idipus Complex)।[४६] मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक विधियों और प्रविधियों का उपयोग होता है ।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में मानववंश परंपरा और उसके परिवेश का अध्ययन, Libido के विकास की अवस्थाएँ इडीपस कोम्पलेक्स, इलेक्ट्रा कोम्पलेक्स, बध्धत्व ग्रंथि, चेतन, अचेतन तथा अवचेतन मन की अवस्था, इद (Id), अहम (Ego) तथा नैतिक-विवेक (Super Ego), दमन (Repression) क्षतिपूरक प्रतिक्रियाएँ (Compensatery reactions), अति क्षतिपूर्ति (Over compensation), कल्पना, दिवास्वप्न (day dreams), प्रक्षेपण (Projection), तार्किकीकरण अथवा औचित्य स्थापना (rationalisation), विस्थापना (dis placement), आत्मीकरण (Identification) नकारात्मक वृत्ति (Negativism), उदात्तीकरण (Sublimation)[४७], प्रभृत्ति मनोवैज्ञानिक विषयों के ज्ञान का उपयोग मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में होता है ।

१:०४:२ मनोवैज्ञानिक उपन्यास : अवधारणाएँ

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक कथावस्तु तथा समस्याओं का आकलन होता है । अन्य उपन्यासों की तुलना मेंउसका कथावस्तु अधिक सूक्ष्म होता है । उसमें स्थूल घटनाओं का भी नितांत अभाव होता है । वहाँ लेखक का उद्देश्य मानस की अतल गहराइयों तक पहुँचना और उसके रहस्यों का उद्घाटन करना होता है । वर्णनात्मकता की अपेक्षा उसमें नाटकीयता एवं सांकेतिकता पर अधिक बल दिया जाता है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की एक और विशेषता उनका आसन्न लेखकत्व है । उसमें लेखक जहाँ-तहाँ उपस्थित नहीं होता । उसमें

लेखक बहुत-सी बातें पाठकों पर भी छोड़ देता है । अत: इन उपन्यासों में पाठकों को भी सृजन का आनंद मिलता है । और उनके प्रत्येक वाचन पर पाठक भी कुछ 'सरप्लस' हो जाता है । यहाँ पाठक को भी सर्जनात्मक आनंद उपलब्ध होता है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के संदर्भ में एक उक्ति प्रचलित है - 'Psychological Novels are not to read, but to reread'[४८] अर्थात् मनौवैज्ञानिक उपन्यास केवल एक बार पढ़ने की वस्तु नहीं अपितु बार-बार पढ़ने की वस्तु है । यहाँ मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के संदर्भ में विद्वानों की कुछ अवधारणाओं को प्रस्तुत करने का उपक्रम है :-

(१) 'यदि किसी उपन्यास में घटना या अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप को अभिव्यक्ति पर आग्रह पायेंगे तो उसे मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहेंगे ।'[४९]

(२) डॉ. रामदरश मिश्र मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के संदर्भ में लिखते हैं - "मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहने का तात्पर्य उन उपन्यासों से हैं जो मूलत: मनोविश्लेषण पर आधारित हैं । ---- मनोवैज्ञानिक उपन्यासों से इतर जो सामाजिक उपन्यास हैं उनके पात्रों की एक चुनी हुई विशेषताएँ होती हैं । हम उनके बारे में इतने विश्वस्त होते हैं कि कह सकते हैं कि अमुक परिस्थिति में अमुक काम करेंगे या अमुक बात कहेंगे । किन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का लक्ष्य पात्रों की मनोवैज्ञानिक शोध करना है । मनुष्य वास्तव में कैसा है, इसका पता लगाना ही उन उपन्यासों का कार्य होता है । - - - सक्रिय जीवन ही केवल जीवन नहीं है, बल्कि वह बहुत महत्वपूर्ण जीवन भी नहीं है, वास्तविक जीवन तो विचारों और अनुभूतियों का आंतरिक जीवन ही है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार इसी आंतरिक जीवन को प्रधानता देते हैं ।"[५०]

(३) डॉ. सत्यपाल चुग प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों के शिल्प पर विचार करते हुए

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की अवधारणा पर प्रकाश डालते हैं । यथा - ‘‘मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों में प्रधानपात्र की जीवनगति या मनोगति कथा का स्वरूप नियत करती है । चरित्र की अन्तर्यात्रा कथा को स्वरूप देती हे, कथा की गति चरित्र को नहीं । कथा पात्रों के भीतर से विकसित होकर चरित्र कथा बन गई है । ---- ‘आदि मध्य अंत’ वाली क्रमानुसार उत्तरोत्तर विकसित होनेवाली कथा अब काल विपर्यय पद्धति (Time Shift) से मध्य, अंत जहाँ-कहीं से आरंभ की जा सकती है । जीवन के प्रसंग विछिन्न - विपर्यस्त होकर कथा में कहीं भी स्थान पा सकते हैं । इस तरह कथा का मनोवैज्ञानिक अनुबंधन होता है ।’’[५१]

(४) डॉ. एस. एन. गणेशन मनोवैज्ञानिक उपन्यासों को वैयक्तिक यथार्थ के उपन्यास मानते हैं । उन्होंने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के संदर्भ में लिखा है - ‘‘प्रेमचन्द के पश्चात के उपन्यासों की सबसे प्रधान मौलिक प्रवृत्ति मनोविज्ञान है । जैनेन्द्र ने जिस प्रवृत्ति को शुरू करके फिर कुछ काल के लिए छोड दिया, उसे इलाचन्द्र जोशी ने पकड लिया और अपने आधा दर्जन उपन्यासों में मनुष्य की मानसिक ग्रंथियों का अध्ययन करने का प्रयन्त किया । ---- मनुष्य की उन्नतिशील सामाजिक सभ्यता के बावजूद उसके अंतर्लोक में आज भी अवस्थित आदिकालीन मनोवृत्तियों और दुर्बलताओं का प्रकटन ही उनका मुख्य विषय है । जोशीजी अवचेतन की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए, ‘अन्तरतर और अन्तरतम जीवन’ के जीवन की व्याख्या करने का दावा करते हैं । मानव जीवन में समाज का जो स्थान है, उसकी उपेक्षा करने के कारण उनके पात्र असाधारण बन गये हैं । --- एक विशादात्मक दर्शन की प्रेरणा से लिखित हमारे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मनुष्य की सामान्य बुद्धि की प्रामाणिकता का निषेध कर, उसके अतीत अज्ञात

एवं अस्पष्ट अन्त:चेतना के निगूढ रहस्यों का आविष्कार करने का आग्रह दिखाई पडता है ।''[५२]

(५) डॉ. भारतभूषण अग्रवाल ने हिन्दी उपन्यासों पर जो पाश्चात्य प्रभाव पड़े हैं उनका अनुसंधान किया है । वे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के संदर्भ में निर्देशित करते हैं - 'वैयक्तिकता एवं अतीत-प्रयाण के साथ, मनोविश्लेषण ने यथार्थ का तीसरा आयाम उद्घाटित किया है - आंतरिकता का । वस्तुत: पाश्चात्य साहित्य में 'मनोवैज्ञानिक उपन्यास' की विधा उपन्यास के केवल इसी आंतरिक प्रकार के लिए प्रयुक्त की जाती है । Lion Edil की पुस्तक 'The Phychological Novel (1900-1950)' इसका प्रमाण है । यह प्रकार इतना विशिष्ट और एकांतित है कि उसका विवेचन एक स्वतंत्र अनुच्छेद के रूप में करना ही उचित है ।''[५३]

(६) डॉ. शशिभूषण सिंहल हिन्दी की औपन्यासिक आलोचना के प्रमुख हस्ताक्षर माने जाते हैं । उन्होंने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के संदर्भ में जो अपने विचार व्यक्त किये हैं, वे यहाँ उल्लेखनीय समझे जा सकते हैं - ''मनोवैज्ञानिक उपन्यास में व्यक्ति को समाज के सर्वग्राही आधिपत्य से मुक्ति दिलाकर, उसकी मूल चेतना को अभिव्यक्त होने का अवसर दिया जाता है । आज अगणित संघर्षों और दबावों से त्रस्त मानव चेतना पहले जैसी सीधी-सादी, निर्द्वन्द्व नहीं रह गई है, वह विचित्र अन्तर्संघर्षों से ग्रस्त, अस्पषट और दुरूह हो गई है । मनोवैज्ञानिक उपन्यास, ऐसी चेतना के धारणकर्ता के व्यक्ति का 'अनेक' के अंग रूप में नहीं, परिपूर्ण 'एक' के रूप में अध्ययन प्रस्तुत करता है ।---- सामाजिक उपन्यास में समाज और व्यक्ति का संबंध इस प्रकार है - व्यक्ति का समाज के अनुकूल बनना अथवा व्यक्ति का समाज को अपने मनोनुकूल

NSA MEHTA LIBRARY
University of Baroda

ढालना । मनोवैज्ञानिक उपन्यास में भी समाज रहता है, किन्तु रंगभूमि यहाँ समाज नहीं मनुष्य का मन है । मनुष्य के बाह्य सामाजिक जीवन की भांति उसका आंतरिक, मानसिक जीवन है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार पात्रों के आंतरिक जीवन को जगाकर पाना चाहता है । वह व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को सुदृढ़ करने की अपेक्षा व्यक्ति-मनुष्य में निहित नैसर्गिक शक्ति को पहचानने पर बल देता है और मानव मन के झरोखे से बाह्य जीवन का अवलोकन करता है । मनोवैज्ञानिक उपन्यास का मूल तत्व पात्रों का मनसचित्रण है । उपन्यास के शेष तत्व इसी केन्द्र से संचालित होकर इसके इर्द-गिर्द चक्कर काटते हैं ।.[५४]

(७) प्रेमचंदजी के उपन्यासों को सामाजिक समस्यामूलक उपन्यासों की श्रेणी में रखा गया है, तथापि उन्होंने उपन्यास की जो परिभाषां दी है वह मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के अधिक समीपस्थ है । वे लिखते हैं - ''मैं उपन्यास को मानवचरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ । मानव-चरित्र के रहस्यों को खोलना ओर उन पर प्रकाश डालना ही उपन्यास का कार्य है ।'' उपर्युक्त परिभाषा में परवर्ती वाक्यखंड मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की प्रकृति और प्रवत्ति को आलोकित करने वाला है ।

संक्षेप में मानवमन की अतल गहराइयों, मानवग्रंथियों तथा मानव-व्यवहार की थाह को पाने का प्रयास जिन उपन्यासों में होता है, उनको हम मनोवैज्ञानिक उपन्यास की श्रेणी में रख सकते हैं ।

१:०४:३ मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की सृष्टि के कारक :

अंग्रेजी में हेनरी जेम्स, जेन ओस्टिन तथा वर्जीनिया वुल्फ जैसे औपन्यासिकों ने, तो हिन्दी में जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय जैसे औपन्यासिकों ने

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सूत्रपात किया। मनोवैज्ञानिक उपन्यास औपन्यासिक प्रवृत्ति की एक आवश्यकता के रूप में सामने आये। वहाँ संक्षेप में उन कारकों एवं परिबलों को अनुसंधित करने का उपक्रम है।

(१) वैयक्तिक यथार्थ की पहचान :

प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्दयुग के लेखकों तथा मार्क्सवादी आलोचकों ने उपन्यास की यथार्थधर्मिता को लेकर इस तथ्य को रेखांकित किया कि उपन्यास में बाह्य या सामाजिक यथार्थ का निर्वाह अत्यन्त आवश्यक है। तब जैनेन्द्र, अज्ञेय, डॉ. देवराज, डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय प्रभृति लेखकों और आलोचकों ने इस मुहीम को अग्रसरित किया कि यथार्थ केवल समाज या सामाजिक परिवेश का ही नहीं होता, यथार्थ का एक दूसरा धरातल भी होता है, वह धरातल है चेतना का। उसे उन लोगों ने चैतसिक यथार्थ कहा। मनुष्य के अनेक कार्यकलाप उसकी चेतना के वशीभूत होते हैं। अत: इस चेतनागत यथार्थ को नकारा नहीं जा सकता। 'महानगर की मीता' (रजनी पनीकर) का नायक डॉक्टर बनने के पश्चात् नायिका को छोड़ देता है। यहाँ बाह्यत: देखनेवाला व्यक्ति उसे निहायत खुदगर्ज इन्सान का दर्जा देगा। परन्तु यदि नायक के आंतरिक जीवन का विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि उसके पीछे असुरक्षा की भावना है। नायक की शैशवावस्था अनेक अभावों में गुजरी है। उसे किसी का प्यार नहीं मिला है। उसकी खुदगर्जी के पीछे यही कारण है। 'आदमी और जानवर' (डॉ. जवाहरसिंह) का नायक धनराज स्टेशन से गाँव निहायत करीब होने के बावजूद टांगा करता है। उसके इस कार्य के पीछे उन लोगों को दिखा देने की भावना है जिनके द्वार वह कभी प्रताड़ित हुआ है। 'मछली मरी हुई' (राजकमल चौधरी) का पद्मावत कलकत्ते में एक बडा स्काय-स्क्रैपर बनवाता है, उसके पीछे बचपन में बेघर होने की भावना ही है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मानव व्यवहार

के पीछे यही चैतसिक यथार्थ काम करता है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में इस चैतसिक यथार्थ को अंगीकृत किया जाता है ।

(२) मनोवैज्ञानिक अनुसंधान :

पिछली दो शताब्दियों में मनोविज्ञान के क्षेत्र में जो अनुसंधान हुए और उसके कारण जो अनेक मनोवैज्ञानिक सिद्धांत सामने आये उन्होंने मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों का पथ प्रशस्त किया । मनुष्य के बहुत से कार्यकलापों को ये उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के आलोक में देखने लगे । उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने लगे । नरोत्तम नागर कृत 'दिन के तारे' उपन्यास का नायक अपनी पत्नी के साथ तालमेल नहीं बिठा पाता । उनमें निरंतर झगड़े और विवाद होते रहते थे और उनके दाम्पत्य जीवन में दरारें पड़ने लगती हैं । उसके पीछे नायक की मातृबद्धत्व ग्रंथि (Mother Fixation) कारणभूत है ।[५५] उषा प्रियंवदा द्वारा प्रणीत उपन्यास 'रूकोगी नहीं राधिका' में राधिका के चरित्र को मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों के सहारे ही समझा जा सकता है । राधिका जो विदेशी पत्रकार के साथ भाग ज़ाती है उसके पीछे उसके मन में संवर्धित Electrta Complex ही कारणभूत है । राधिका पहले पितृजद्धत्व ग्रंथि से पीड़ित थी, परन्तु उसके पिता जब पुनर्विवाह करते हैं तब उसका मोहभंग होता है । उस मोहभंग के कारण उसमें Electra Complex विकसित होता है । इस ग्रंथि के कारण वह लगातार ऐसे कार्यों में संलग्नित होती है जिनसे उसके पिता को आघात पहुँचे ।

(३) नारी व्यक्तित्व की पहचान :

नारी शिक्षा आधुनिक काल का एक प्रमुख अभिलक्षण है । राजा राममोहनराय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ज्योतिबा फुले तथा बाद में महात्मा गाँधी

जैसे महानुभावों के कारण बीसवीं शताब्दी में नारी शिक्षा का चारों तरफ प्रचार-प्रसार हो रहा था। इस नारी शिक्षा ने नारी विषयक अनेक मिथों को तोड़ा और उसकी एक स्वतंत्र पहचान बनने लगी। स्वतंत्र व्यक्तित्ववाली यह नारी पुरुष के मन को लुभाती तो है परन्तु सैंकडों वर्षों से पुरुषसत्ताक समाज व्यवस्था के कारण पुरुष में जो अहम् की ग्रंथि है वह सहसा तो दूर होने से रही। पुरुष को नारी का यह स्वतंत्र व्यक्तित्व तब तक अच्छा लगता है, जब तक वह उससे अनुशासित रहती है, या उससे निम्नकक्षा पर रहती है। परन्तु जहाँ स्त्री अपनी शक्ति प्रतिभा से आगे निकलने का प्रयास करती है वहाँ पुरुष के अहम को चोट पहुँचती है। और उसके कारण स्त्री-पुरुष या पति-पत्नी के संबंधो में विछिन्नता का प्रारंभ हो जाता है। मोहन राकेश कृत 'अंधेरे बंद कमरे' तथा मन्नू भंडारी कृत 'आपका बंटी' में हम इस मनोवैज्ञानिक सच्चाई से अभिज्ञ होते हैं। 'अंधेरे बंद कमरे' की नीलिमा अपने पति हरबंस से ठीक ही कहती है - ''तुम सिर्फ़ इस हीन-भावना के शिकार हो कि लोग मुझे तुमसे ज्यादा जानते हैं और उनमें जो बात होती है वह तुम्हारे विषय में न होकर मेरे विषय में होती है। तुम्हें यह बात खा जाती है कि लोग तुम्हारी चर्चा नीलिमा केपति के रूप में करते हैं। तुम्हें डर लगता है कि अगर मेरा प्रदर्शन सफल हुआ, तो लोग मुझे और ज्यादा जानने लगेंगे और तुम अपने को और छोटा मजसूस क़रोगे।''[५६]

अभिप्राय यह कि नारी शिक्षा ने सामाजिक-पारिवारिक जीवन को एक नया आयाम प्रदान किया, जिसके कारण अनेक ऐसी समस्याएँ पैदा हुई जिन्होंने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के सृजन में महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की। 'आपका बंटी' की शकुन, 'रेखा' की रेखा, 'पचपन खंभे लाल दीवारें' की सुषमा, 'मुझे चाँद चाहिए' की वर्षा वशिष्ठ, 'चित्त कोबरा' की मनु, 'छिन्न मस्ता' की नायिका जैसी सुशिक्षित नारियाँ उपर्युक्त तथ्य के प्रमाण हैं।

(४) पुरुष का आहत् अभिमान :

सामंतकालीन वातावरण में स्त्री, पुरुष की दासी थी, सेविका थी, अनुसारिणी थी; परन्तु जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया नारी शिक्षा ने अनेक सामाजिक समीकरणों को बदल दिया। स्त्री अब दासी बने रहना नहीं चाहती, वह पुरुष की जीवनसाथी होना चाहती है । समाज में स्त्री पुरुष की गैरबराबरी को लेकर वह केवल दु:खी ही नहीं होती, अपितु उसके लिए विद्रोह भी करती है, आंदोलन भी करती है । विगत दशकों में पश्चिम में अनेक नारी मुक्ति आन्दोलनों ने जन्म लिया जिनका प्रभाव भारत सहित विश्व के दूसरे देशों पर भी पड़ा । एक हद तक पुरुष की मानसिकता आज भी सामंतकालीन है । वह अपने सामंतकालीन संस्कारों के कारण आज भी कमोवेश रूप से उसी मानसिकता से पीड़ित है । उसका आहत अभिमान अपने वर्चस्व को छोड़ना नहीं चाहता । वह एक विचित्र किस्म के द्वन्द्व में फँसा हुआ है । 'भव भव की दासी' या 'चरणों की दासी' उसे मिल सकती है पर वह नितांत, अनपढ़ और गँवार होगी । उसे तो ऐसी नारी चाहिए जो शिक्षित हो, व्यक्तित्व संपन्न हो, दूसरे शब्दों में कहे तो 'स्मार्ट' हो । परन्तु फिर ऐसी स्त्री उसकी नितांत अनुगामिनी होकर चलेगी ऐसा कैसे संभव हो सकता है । 'अंधेरे बंद कमरे', 'आपका बंटी', 'मुझे चाँद चाहिए', 'रेखा', 'रूकोगी नहीं राधिका', 'छिन्नमस्ता', 'कोहरे' जैसे उपन्यासों में हम पुरुष द्वन्द्व की इस कसमसाहट को महसूस कर सकते हैं । कहना न होगा कि इन परिस्थितियों ने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों को एक नई जमीन दी है ।

(५) अतिबौद्धिकता :

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बौद्धिकता का आग्रह बढ़ने लगा है । बुद्धि या विचार पक्ष समुचित और समुन्नत जीवन के लिए आवश्यक तो है, परन्तु उसका अतिरेक मानव-जीवन एवं समाज-जीवन को किसी हद तब प्रभावित कर सकता

है । वस्तुतः हृदयपक्ष या भावपक्ष और बुद्धिपक्ष या विचारपक्ष दोनों में एक संतुलन आवश्यक है । इस संतुलन से ही मानवता का विकास संभव है । परन्तु आधुनिक काल में यह संतुलन गड़बड़ा गया है । इस संदर्भ में एक शेर उद्धृत करना चाहूँगी -

> ''हर एक युग में कोई होती है बात ऐसी
> बुद्धि का बोज बढा, सभी है झेले ।''[५७]

इस बढ़ते हुए बुद्धिवाद ने अनेक मानव समस्याओं को जन्म दिया है । सामाजिक और पारिवारिक जीवन पहले की अपेक्षा अधिक जटिल हो गया है, जिसके कारण मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सृजन अपेक्षाकृत बढने लगा है ।

(६) नगरीकरण की प्रक्रिया :

पिछले सौ-डेढ सौ वर्षों में हमारे यहाँ नगरीकरण की प्रक्रिया बहुत तेज गति से हो रही है । प्रसिद्ध समाजशास्त्री वर्गल के मतानुसार - ''ग्रामीण क्षेत्रों के नगरीय क्षेत्रों में परिवर्तित होने की प्रक्रिया को ही हमें नगरीकरण कहना चाहिए ।''[५८] दूसरे समाजशास्त्री निचेल नगरीकरण को नगरीय बनने की प्रक्रिया मानते हैं, जिसमें लोग नगर की ओर गमन करते हैं । कृषि को छोड़कर अन्य नगरीय व्यवसायों को ग्रहण करते हैं और इसके साथ-साथ व्यवहार प्रतिमानों में भी परिवर्तन लाते हैं ।[५९] नेल्स एन्डरसन नगरीकरण के प्रमुखतया तीन अभिलक्षण बताते हैं -

(i) लोगों का ग्रामीण क्षेत्र से शहरी निवास के क्षेत्रों की ओर गति करना ।

(ii) कृषि को छोड़कर कृषीतर कार्यों को अपनाते जाना ।

(iii) लोग बिना किसी नगर में गमन किये भी अपने विचारों एवं व्यवहारों में नगरीय हो सकते हैं । इस प्रकार नगरीकरण एक जीवन पद्धति है, जिसका प्रसार नगर से बहार की ओर होता है ।[६०]

विश्व के अन्यदेशों की भांति भारत में भी नगरीकरण (Urbanization) की प्रक्रिया निरंतन क्षिप्रगामी रही है। एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में नगरीय क्षेत्रों की जनसंख्या का प्रतिशत् सन् 1901 में 10.84, सन् 1941 में 13.85, सन् 1971 में 19.09 तथा सन् 1981 में 23.31 रहा है। इधर बीस वर्षों में उसमें और भी बढोत्तरी हुई है।[६१] गाँवों से नगर की ओर लोगों का जो प्रतिगमन है उसको डॉ. शिवप्रसाद सिंह कृत उपन्यास 'अलग अलग वैतरणी' ने गहरे दर्द के साथ अभिव्यंजित किया गया है। उपन्यास का एक पात्र जग्गन मिसिर उपन्यास के नायक विपिन बाबू को कहते हैं "आप जा रहे हैं विपिन बाबू, जाइए। कोई इसके लिए आपको दोष भी नहीं देगा। सभी जाते हैं हमारे गाँवों से आजकल इकतरफा रास्ता खुला है। निर्यात। सिर्फ निर्यात। जो भी अच्छा है, काम का है, वह यहाँ से चला जाता है। अच्छा अनाज, दूध, घी, सब्जी जाती हैं। अच्छे मोटे ताजे जानवर, गाय, बैल, भेड़-बकरी जाते हैं। हट्टे-कट्टे मजबूत आदमी जिनके बदन में ताकत है, देह में बल है, खींच लिये जाते है पल्टन में, पुलिस में। मलेटरी में। मील में। फिर वैसे लोग जिनके पास अकल है, पढे लिखे हैं, यहाँ कैसे रह जायेंगे ? वे जायेंगे ही। जाना ही होगा।"[६२] जग्गन मिसिर के इस कथन में गहरी संवेदना और कसक है।

यहाँ नगरीकरण की यह बात इसलिए प्रस्तुत है कि इस नगरीकरण के कारण ही अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याओं का उद्भव हुआ है। यह तो एक अनुभूत सत्य हे कि ग्रामीण लोगों की तुलना में नगरीय परिवेश में रहने वाले लोगों में मनोवैज्ञानिक बीमारियाँ और ग्रंथियाँ अधिक पायी जाती हैं। पश्चिम में नगरीकरण की प्रक्रिया पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी से प्रारब्ध हो गई और उसका रूप भी बड़ा तीव्रतम है। अत: हमारी अपेक्षा वहाँ मनोवैज्ञानिक बीमारियाँ अधिक पायी जाती है। हमारे यहाँ कस्बों और छोटे नगरों की तुलना में महानगरों में इसका प्रमाण बढ़ा-चढ़ा मिलता है। नगर का व्यक्ति अनेक प्रकार

के दबावों में काम करता है, फलत: वह मानसिक रूप से अधिक स्वस्थ नहीं रह पाता । यह मानसिक अस्वस्थता अनेक प्रकार की मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों और बीमारियों को पैदा करती है ।

नगरीकरण के कारण मनुष्य के स्वास्थ्य पर भी प्रभाव पड़ता हे और शारीरिक अस्वस्थता मानसिक अस्वस्थता को जन्म देती है । नगर के लोग अनिद्रा एवं चिंता से परेशान रहते हैं । नगरीकरण ने परिवार एवं विवाह संस्था को प्रभावित किया है । पति-पत्नी के पारस्परिक संबंधों में बदलाव आया है । स्त्री-पुरुष की समानता पर जोर दिया जाने लगा है और वे अब शैक्षिक राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समकक्ष आ खड़ी हुई हैं । परिवार में अब वयोवृद्ध लोगों के प्रभाव में कमी आयी है और अनेक महत्वपूर्ण के मामलों में नई पीढ़ी के लोग उनकी सलाह लेना जरूरी नहीं सकझते । नगरों में विवाह संस्था में अनेक परिवर्तन घटित हुए हैं । विवाह को धार्मिक संस्कार के स्थान पर अब एक समझौता माना जाने लगा है । यही कारण हे कि नगरों में अब तलाकों की संख्या में अभिवृद्धि हो रही है । प्रेमविवाह, अंतरजातीय विवाह एवं कोर्ट मेरिज शहरों में ही अधिक पाये जाते हैं । विवाह अब दो परिवारों का नहीं अपितु दो व्यक्तियों का आपसी मामला बनता जा रहा है । मोहन राकेश कृत 'आपका बंटी', भीष्म साहनी कृत 'कड़ियाँ' जैसे उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के संबंधों में जो खंडितता पायी जाती है उसके कारणों में नगरीकरण की यह प्रक्रिया ही कारणभूत है । व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के कारण सामाजिक विघटन की प्रक्रिया भी तेज़ हो गई है । नगरों में मकानों की भी समस्याएँ हैं । कमलेश्वर कृत 'तीसरा आदमी' में पति-पत्नी के बीच जो शंका-कुशंका का कुहासा चलता है, उसके मूल में मकान की ही समस्या है । नगरीकरण के कारण धर्म का प्रभाव भी दिनोंदिन घट रहा है । गाँवों की तुलना में नगरों में नास्तिकता का प्रमाण अधिक पाया जाता हे, जिसके फ लस्वरूप

मानसिक तनाव एवं संघर्ष की स्थिति उभरती है। आत्मिक अशांति एवं मानसिक बेचैनी से मुक्ति पाने के लिए लोग नींद की गोलियों (Sleeping Pills) का इस्तेमाल करते हैं। इस प्रकार नगरीकरण ने मध्यवर्ग को जहाँ कुछ समृद्ध एवं सम्पन्न किया है, वहाँ अनेक मानसिक समस्याओं को पैदा भी किया है।

(७) भौतिकता की अंधी दौड :

पहले के किसी भी काल की तुलना में आधुनिक काल का मनुष्य अपेक्षाकृत अधिक भौतिकवादी हो गया है। भौतिकता के पीछे अंधी दौड़ लगाने के कारण वह येन केन प्रकारेण भौतिक दृष्टि से शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न हो जाना चाहता है। भौतिकता के इस आग्रह के कारण उसको अनेक मानवीय मूल्यों का परित्याग भी करना पडता है। परिणामस्वरूप वह आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न तथा समृद्ध तो हो जाता है परन्तु आत्मिक दृष्टि से खोखला हो जाता है। यह अंदर का खोखलापन उसमें अनेक प्रकार की ग्रंथियों एवं मानसिक तनाव को पैदा करता है। प्राचीन तथा मध्यकालीन मनुष्य में कम से कम संतोष का प्रमाण अधिक था। संतोष के इस गुण के कारण उसमें मानसिक समतुला बनी रहती थी। भौतिकवादी चीजपरस्ती ने मनुष्य के इस सुख, संतोष और चैन को छिन लिया है। हर आदमी दौड़ रहा है, भाग रहा है। यह भौतिकता की भागदौड़ उसकी आत्मिक शांति को भंग कर रही है। फलत: आज के मनुष्य के पास सब कुछ है, पर मन की शांति नहीं है। 'अंधेरे बंद कमरे', 'टेराकोटा', 'डाकबंगला', 'बेघर', 'महानगर की मीता', 'अकेला पलाश' प्रभृत्ति उपन्यासों में हम इस सच को रेखांकित कर सकते हैं।

(८) पारिवारिक विघटन :

पारिवारिक विघटन भी नगरीकरण का ही परिणाम है। पिछले कुछ दशकों में परिवार निरंतर विघटित होता गया है। अब तो परिवार की व्याख्या

ही संकुचित हो गई है। संयुक्त परिवार की संख्या अब लगभग खत्म होने पर है। सरकारी संस्थाओं और नौकरियों में भी परिवार के अंतर्गत अब पति, पत्नी और बच्चों का ही समावेश होता है। युरोप, अमरिका में तो अब उसमें भी विघटन शुरू हो गया है और स्थिति अब एकक-परिवार तक आ गई है। विवाह संस्था भी टूट रही है। निर्मल वर्मा के उपन्यास 'वे दिन' के जाक और रायना अलग-अलग रहते हैं। अपने पुत्र मीता को उन्होंने होस्टेल में रख छोड़ा है और छुट्टियों में वे उसे बारी-बारी से रखते हैं। इन सब कारणों से मनुष्य का मन खण्डित और छिन्न-भिन्न हो गया है। इस खंडितता और छिन्न-भिन्नता के कारण अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याएँ पैदा होती हैं। इस पारिवारिक विघटन के कारण मनुष्य में अकेलेपन और अजनबीपन की भावना विकसित हो रही है। मनुष्य स्वयं को भीड़ में भी अकेला महसूस कर रहा है। इधर के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में हम व्यक्ति के इस अकेलेपन और अजनबीपन को बराबर दृष्टिगत कर सकते हैं।

१:०४:४ प्रबन्ध हेतु उपजीव्य मनोवैज्ञानिक उपन्यास :

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का उद्देश्य मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक क्षण, मनोवैज्ञानिक ग्रंथियाँ, मनोवैज्ञानिक समस्याएँ तथा कामकुंठाओं की खोज करना है। अतः इस शोधप्रबन्ध में हमने निम्नलिखित उपन्यासों पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करने का उपक्रम रखा है:-

'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'मुक्तिबोध' (जैनेन्द्रकुमार); 'परदे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'जहाज का पंखी', 'जिप्सी' (इलाचन्द्र जोशी); 'शेखर एक जीवनी-१', 'शेखर एक जीवनी-२', 'नदी के द्वीप', 'अपने-अपने अजनबी' (अज्ञेय); 'रेखा' (भगवतीचरण वर्मा); 'शहर में घूमता आईना' (उपेन्द्रनाथ 'अश्क'); 'अजय की डायरी', 'भीतर का घाव'

(डॉ. देवराज); 'घेरे के बाहर' (द्वारिकाप्रसाद); 'गुनाहों का देवता' (डॉ. धर्मवीर भारती); 'दिन के तारे' (नरोत्तम नागर); 'दिगम्बरी' (सूर्य कुमार जोशी); 'एक कटी हुई जिन्दगी - एक कटा हुआ कागज', 'टेरा कोटा' (लक्ष्मीकान्त वर्मा); 'किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई, चंद औरतों का शहर' (शैलेश मटियानी); 'दो एकान्त', 'डूबते मस्तूल' (नरेश महेता), 'तंतुजाल' (डॉ. रघुवंश); 'परन्तु', 'जो', 'साँचा' (प्रभाकर माचवे); 'उसका बचपन' (कृष्ण बलदेव वैद); 'अंधेरे बंद कमरे', 'अंतराल' (मोहन राकेश); 'वेदीन' (निर्मल वर्मा); 'पचपन खंभे लाल दीवारें', 'रूकोगी नहीं राधिका' (उषा प्रियंवदा); 'अठारह सूरज के पौधे', 'वैसाखियों वाली इमारत' (रमेश बक्षी); 'यात्राएँ' (गिरीराज किशोर); 'महानगर की मीता', 'दूरियाँ' (रजनी पनीकर); 'कड़ियाँ' (भीष्म साहनी); 'सारा आकाश', 'कुलटा', 'शह और माता', 'अनदेखे अनजान पुल' (राजेन्द्र यादव); 'कृष्णकली', 'विषकन्या', 'स्मशानचंपा' (शिवानी); 'आँखों की देहलीज़', 'उसका घर' (मेहरून्निसा परवेज़), 'बेघर', 'नरक-दर-नकर' (ममता कालिया); 'चित्तकोबरा', 'उसके हिस्से की धूप' (मृदुला गर्ग); 'पतझड की आवाजें', 'बँटता हुआ आदमी' (निरूपमा सेवती); 'एक पति के नोटस' (महेन्द्र भल्ला); 'मेरे संधिपत्र' (सूर्यबाला सिंह), 'सूरजमुखी अंधेरे के', 'मित्रो मर जानी' (कृष्णा सोबती); 'लौटती लहरों की बांसुरी' (डॉ. भारतभूषण अग्रवाल); 'काँचघर' (डॉ. रामकुमार भ्रमर); 'आपका बंटी' (मन्नू भंडारी); 'कोहरे', 'प्रिया' (दीप्ति खंडेलवाल); 'उसकी पंचवटी' (कुसुम अंसल); 'टूटा हुआ इन्द्रधनुष' (प्रभा सक्सेना); 'रेत की मछली' (कांता भारती); 'नावें', 'सीढियाँ' (शशिप्रभा शास्त्री); 'दो लड़कियाँ' (रजनी पनीकर); 'दिनान्त' (शीला रोहेकर) 'ढहती दिवारें' (मीना दास); 'छिन्नमस्ता' (प्रभा खेतान); 'मुझे चाँद चाहिए' (सुरेन्द्र वर्मा) ।

इसका अर्थ यह कतई नहीं कि दूसरे प्रकार के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक ग्रंथियाँ और समस्याएँ नहीं होती । यथावश्यक हमने अन्य प्रकार के उपन्यासों से

भी कहीं-कहीं कुछ उदाहरण रेखांकित किए हैं । परन्तु इस शोध यात्रा के दरमियान हमारा ध्यान मुख्यतया उल्लिखित (ऊपर) उपन्यासों की ओर सविशेष रहा है ।

१:०५:०१ निष्कर्ष :

समग्र अध्याय के विहंगावलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक सहजतया पहुँच सकते हैं -

(१) नवजागरण के कारण भारतीय जनजीवन के सभी क्षेत्रों में जो अश्रुतपूर्व परिवर्तन आया, साहित्य के क्षेत्र में उपन्यास का आविर्भाव भी उनमें से एक है ।

(२) नगरीयकरण तथा औद्योगिकरण से उत्पन्न जीवन की जटिलता को रूपायित करने का कार्य उपन्यास द्वारा संपन्न हुआ ।

(३) उपन्यास एक लचीली विधा है । उसे परिभाषित करना कठिन है । तथापि कह सकते हैं कि यथार्थधर्मिता उपन्यास का प्राणतत्व है ।

(४) पश्चिम में भी उपन्यास का विकास गद्य के विकास के साथ हुआ । उपन्यास का प्रारंभ वहाँ सत्तरहवीं शताब्दी से हुआ । बोकासियो, सर्वांतीस, ज्होन बनीयन, डेनियन डिफो, रिचार्डसन, स्मोलेट आदि सत्तरहवीं-अठारहवीं शताब्दी के प्रमुख औपन्यासिकों में आते हैं ।

(५) अठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में दो प्रमुख औपन्यासिक आविर्भूत होते हैं, जिनके नाम है - सर वोल्टर और जैन ऑस्टिन ।

(६) पाश्चात्य उपन्यास साहित्य ने कल्पनातीत विकास किया है । उनकी

विश्वविख्यात औपन्यासिक कृतियों में मादाम बाबरी, वॉर एण्ड पीस, डॉ. जिवागो, यूलिसीस पिकविक पेपर्स, यामा, मधर इत्यादि हैं ।

(७) यथार्थवाद, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद जैसे विचार-प्रवाहों ने उपन्यासों को आंदोलित किया है ।

(८) हिन्दी में पूर्व प्रेमचंदकाल का उपन्यास स्थूल कथावस्तु प्रधान, मनोरंजन प्रधान, बोध, प्रधान, चरित्र चित्रण की पद्धति से रहित ओर अपरिपक्व अवस्था का है । उसमें वास्तव के स्थान पर रोमानी भावुकता का अतिरेक होता है । हिन्दी उपन्यास को उसका वास्तविक गौरव मुंशी प्रेमचंद द्वारा प्राप्त हुआ । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का विकास अधिकांश प्रेमचंदोत्तरकाल में हुआ ।

(९) हिन्दी के प्रमुख औपन्यासिकों में हम पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी, लाला श्रीनिवासदास, मुंशी प्रेमचंद, उपन्द्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर, जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय, फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन, यशपाल, मोहनराकेश, कमलेश्वर, डॉ. राही मासूम रजा, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, मन्नूभंडारी आदि की परिगणना कर सकते हैं ।

(१०) हिन्दी की प्रेमचन्दोत्तर काल की औपन्यासिक प्रवृत्तियों में सामाजिक उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास, समाजवादी उपन्यास, आँचलिक उपन्यास, राजनीतिक उपन्यास, व्यंगयात्मक उपन्यास, पौराणिक उपन्यास, प्रयोगवादी उपन्यास, साठोत्तरी उपन्यास तथा समकालीन उपन्यास आदि की परिगणना कर सकते हैं ।

(११) मनोवैज्ञानिक उपन्यास में मानव-मन की गहराइयों को उद्घाटित करने का प्रयास रहता है । यहाँ चैतसिक यथार्थ का महत्व अपरिहार्य होता

है । इसमें मनोवैज्ञानिक समस्याओं, गुत्थियों और ग्रंथियों को उकेरने की प्रवृत्ति रहती है । बाह्य जगत की तुलना में आंतरिक जगत का प्राधान्य यहाँ दृष्टिगोचर होता है ।

(१२) मनोवैज्ञानिक उपन्यास मूलतः मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित होते हैं । उनमें वैयक्तिक यथार्थ का प्राधान्य होता है । ये उपन्यास व्यक्ति को समाज के सर्वग्राही आधिपत्य से मुक्ति दिलाकर मनुष्य की मूल चेतना को अभिव्यक्त करते हैं ।

(१३) बीसवीं शताब्दी में भारत में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिनके कारण मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सृजन क्षीप्रगामी हुआ है । वैयक्तिक यथार्थ की पहचान, मनोवैज्ञानिक अनुसंधान, अभिमान, अतिबौद्धिकता, नगरीकरण की प्रक्रिया, भौतिकता की अंधी दौड़ तथा पारिवारिक विघटन जैसे कुछ कारकों ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है ।

* * * *

संदर्भानुक्रम

१. दृष्टव्य : संस्कृति के चार अध्याय : डॉ. रामधारीसिंह दिनकर : पृष्ठ - ५३१ से ५८१

२. दृष्टव्य: नाटयशास्त्र का पारिभाषिक संदर्भ कोश : कोश : डॉ. ब्रजवल्लभ मिश्र पृष्ठ - ९६

३. दृष्टव्य: काव्य के रूप : बाबू गुलाबराय : पृष्ठ - १५१

४. The Novel and the People : Ralph Fox : P. 83

५. दृष्टव्य: हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डॉ. भारतभूषण अग्रवाल : पृष्ठ २६

६. दृष्टव्य: काव्य के रूप : डॉ. गुलाबराय : पृष्ठ १७९

७. हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डॉ. भारतभूषण अग्रवाल : पृष्ठ २८

८. वही : पृष्ठ २९

९. वही : पृष्ठ २९-३०

१०. दृष्टव्य : काव्य के रूप : बाबू गुलाबराय : पृष्ठ १७९

११. दृष्टव्य : साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डॉ. पारूकान्त देसाई : पृष्ठ १४९

१२. वे दिन : निर्मल वर्मा : पृष्ठ २११

१३. दृष्टव्य: भारतीय नवलकथा : डॉ. रमणलाल जोशी : पृष्ठ

१४. दृष्टव्य: हिन्दी उपन्यास : संपादक डॉ. सुषमा प्रियदर्शिनी : पृष्ठ

१५. दृष्टव्य: हिन्दी उपन्यास : सम्पादक - डॉ. सुषमा प्रियदर्शिनी - पृष्ठ १३३ - १३९

१६. दृष्टव्य: वही : पृष्ठ १३९ से १४२

१७. दृष्टव्य: हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव - डॉ. भारतभूषण अग्रवाल - पृष्ठ ७५

१८. हिन्दी उपन्यास : सम्पादक : डॉ. सुषमा प्रियदर्शिनी - पृष्ठ १४२

१९. हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा : डॉ. रामदरश मिश्र - पृष्ठ ४४

२०. प्रेमचन्द और उनका युग : डॉ. रामविलास शर्मा : पृष्ठ ३१

२१. 'हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा' : डॉ. रामदरश मिश्र - पृष्ठ २९

२२. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डॉ. पारूकान्त देसाई - पृष्ठ ५

२३. कलम का सिपाही : अमृतराय - पृष्ठ ६५२

२४. युगनिर्माता प्रेमचन्द : डॉ. पारूकान्त देसाई - पृष्ठ २१

२५. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डॉ. गणेशन - पृष्ठ ६९-७०

२६. 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' : अज्ञेय - पृष्ठ ९६

२७. 'काव्य के रूप' : डॉ. गुलाबराय - पृष्ठ १८२

२८. दृष्टव्य : युगनिर्माता प्रेमचन्द : डॉ. पारूकान्त देसाई - पृष्ठ २९

२९. प्रेमचन्द और गोर्की : सम्पादक शचिरानी गूर्टु - पृष्ठ ६८

३०. प्रेमचन्द एक कृती व्यक्तित्व : जैनेन्द्रकुमार - पृष्ठ २१

३१. कलम का सिपाही : अमृतराय - पृष्ठ ४८६

३२. हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. नगेन्द्र - पृष्ठ ५८०

३३. Joyas Cary : Writers at work : First Series (1958) : P.60

३४. विस्तार के लिए देखिए : हिन्दी उपन्यासों की विकास परंपरा में साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : शोध-प्रबन्ध : डॉ. पारूकान्त देसाई : पृष्ठ

३५. विस्तार के लिए देखिए : हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास : डॉ. धनराज माने तथा साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास, हिन्दी लेखिकाओं के नगरी परिवेश के उपन्यास: डॉ. पारूकान्त देसाई

३६. दृष्टव्य : क्षीतिज : सम्पादक सुरेश जोशी : नवलकथा विशेषांक ।

३७. दृष्टव्य : हिन्दी के आँचलिक उपन्यास : डॉ. बंसीधर शर्मा

३८. The idea of comedy : Meridith : P.391

३९. दृष्टव्य : दीक्षा : डॉ. नरेन्द्र कोहली : पृष्ठ

४०. विस्तार के लिए देखिए : साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डॉ. पारूकान्त देसाई ।

४१. दृष्टव्य : परख : जैनेन्द्रकुमार - पृष्ठ ११८

४२. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान : डॉ. देवराज - पृष्ठ १४

४३. The Psychological Novel : Leon edel : Page - 29

४४. The Psychology Novel : Lion edel : P.36

४५. दृष्टव्य : मन्नूभण्डारी के कथा साहित्य का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन : डॉ. ममता शुक्ला: पृष्ठ - २१

४६. दृष्टव्य : वही : पृष्ठ - २१

४७. दृष्टव्य : वही : पृष्ठ - २२ - ३९

४८. हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास परंपरा में साठोत्तरी उपन्यास : डॉ. पारूकान्त देसाई : पृष्ठ - १९६ (शोध प्रबन्ध)

४९. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान : डॉ. देवराज : पृष्ठ १४

५०. 'हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा' : डॉ. रामदरश मिश्र : पृष्ठ ८०-८६

५१. प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि : डॉ. सत्यपाल चुग : पृष्ठ - ८४

५२. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डॉ. एस. एन. गणशन : पृष्ठ ८७ - ८९

५३. हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डॉ. भारतभूषण अग्रवाल : पृष्ठ - ३०२

५४. लेख : मनोवैज्ञानिक उपन्यास : हिन्दी के संदर्भ में : डॉ. शशिभूषण सिंहल : वृहत् साहित्यिक निबंध : सम्पादक डॉ. यश गुलाटी : पृष्ठ २४९ - २५०

५५. दृष्टव्य : काव्य के रूप : डॉ. गुलाबराय - पृष्ठ

५६. अंधेरे बंद कमरे : मोहन राकेश : पृष्ठ ३४५

५७. सूखे सेगल के वृत्तो पर : डॉ. पारूकान्त देसाई - पृष्ठ ३७

५८. Urban sociology : P. 11

५९. Quoted by Breese in : Urbanization in new developed countries : P.3

६०. N. Anderson, Our Industrial Urban civilization :P.1

६१. दृष्टव्य : भारतीय सामाजिक समस्याएँ : डॉ. एम.एल. गुप्ता - पृष्ठ ११२

६२. अलग-अलग वैतरणी : डॉ. शिवप्रसाद सिंह : पृष्ठ ६८५